नागरीप्रचारिणी पत्रिका

केशव-स्मृति अंक

सं० २००८

संपादक

कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का ५)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

विषय-सूची

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र

(चैत्र कृष्ण ७ सं० १९४२—फाल्गुन शुक्ल १३ सं० २००७)

हिंदू विश्वविद्यालय से अवकाश-ग्रहण करने पर अभिनंदन के अवसर का चित्र

प्रस्तावना

परलोकगत विशिष्ट विद्या-प्रतिभा-संपन्न सत्पुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण तथा उनकी स्मृति को साकार बनाने का प्रयत्न हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है। उसका पालन कर हम उन्हें नहीं, अपने को गौरवान्वित एवं उपकृत करते हैं। हम जिस भाव से उन्हें देखते हैं—जैसी श्रद्धा उनके प्रति रखते हैं—वह बहुत अंशों में हमारे वर्तमान का निदर्शक एवं भविष्य का विधायक होता है। अतः उनकी उपेक्षा कर हम केवल एक शिष्ट कर्तव्य से च्युत ही नहीं होते, प्रमादवश अपनी क्षति भी करते हैं।

आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र सात्विकी श्रद्धा से पूर्ण त्रिविध[1]-तपोनिरत, भारती के उन मौन उपासकों में थे जिन्हें समझने-परखने में युग-सुलभ-ख्याति-लोभी दृष्टि को भ्रम होना सहज संभव है किंतु जिनको समझ-परख लेने पर सात्विक निष्ठावाले सत्पुरुषों को अपूर्व मनःप्रसाद एवं आत्मबल प्राप्त होता है। जगत् में आज विद्वानों, कवियों, कलाविदों, समालोचकों आदि की कमी कहाँ हैं! परंतु अपने सत्-आचार एवं प्रिय-हित भाषण द्वारा दूसरों के मनःप्रसादन का गुण सबमें कहाँ होता है! गंभीर विद्वत्ता एवं प्रसन्न प्रतिभा के साथ वह सहज सरसता क्या सर्वत्र सुलभ है? केवल विद्वत्ता तो समय पर राक्षसी रूप

१—भगवद्गीता के अनुसार शारीर, वाङ्मय एवं मानस तीन प्रकार का सात्विक तप इस प्रकार है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
..............तपः। सात्विकमुच्यते॥ गीता, १७।१४-१७

भी धारण कर सकती है, पर सरस हृदय अपनी सरसता का त्याग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकता।[२] केशव जी ऐसे ही सरस विद्वान् थे।

केशव जी कुशल कवि, प्रकृतिसिद्ध अध्यापक, विज्ञ समालोचक, सफल निबंधकार, विशिष्ट भाषातत्त्वज्ञ, पाणिनि-पतंजलि के मार्मिक प्रवक्ता एवं बहुमुखी-प्रतिभाशाली विद्वान् थे। अपने युग के भारतीय विद्या के कितने ही प्रतिष्ठित विद्वानों—स्रष्टाओं और भावकों—का उन्होंने सम्मान पाया और कितनों ही को उनसे सत्प्रेरणा मिली। सर्वोपरि वे इस युग के एक आदर्श ब्राह्मण एवं आदर्श भावक थे।

केशव जी को परलोकगत हुए सौर चैत्र ७, सं० २००८ (२१ मार्च सन् १९५२) को एक वर्ष हो गया (पत्रिका, वर्ष ५५ अंक ४, 'विविध')। सभा ने यह संकल्प किया था कि इस अवसर पर पत्रिका के तृतीय-चतुर्थ अंक उनकी स्मृति में एक विशेष अंक के रूप में प्रकाशित हों। उस संकल्प की पूर्ति में विद्वानों के लेखों एवं श्रद्धा-संस्मरणों तथा आचार्य केशव जी की कुछ रचनाओं के संकलन से युक्त यह केशव-स्मृति अंक प्रस्तुत है। इस अंक के रूप में हम आचार्य केशव जी के महद्गुणों का स्मरण करते हुए उन्हें अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—संपादक

२—साक्षरा: विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेद् सरसत्वं न मुञ्चति॥

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

केशव-स्मृति अंक

वर्ष ५६] संवत् २००८ [अंक ३-४

पाणिनि और उनका शास्त्र*

[ले० श्री वासुदेवशरण]

येनाक्षर - समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
पाणिनीयं महत्सुविहितम्

व्याकरण

भारतवर्ष में व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छहों वेदांगों में प्रधान माना गया है (व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या, भाष्य १।२।३२; षट्सु अंगेषु प्रधानम्)। भाषा के वर्गीकरण और प्रकृति-प्रत्यय रूप विश्लेषण में जैसी उन्नति इस देश में हुई वैसी अन्यत्र नहीं। संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपों को अलग किया, धातु और प्रत्यय के भेद को पहिचाना, प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय किया और शब्दविद्या का इतना निश्चित और पूर्ण शास्त्र तैयार किया जिसकी उपमा किसी अन्य देश में नहीं मिलती। भारतीयों के शब्दविद्या-विषयक ज्ञान से पश्चिमी विद्वानों ने अपने भाषाशास्त्र में भी लाभ उठाया है।

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जो इस समय उपलब्ध होता है। आचार्य पाणिनि ने महान् अष्टाध्यायी शास्त्र की रचना की, जो अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं विराट् कल्पना के कारण भारतीय

* लेखक-रचित ग्रंथ का पहला अध्याय।

मस्तिष्क की उसी प्रकार की सविशेष कृति है जिस प्रकार पर्वत में उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलास-मंदिर। पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की। व्याकरण की जो रीति उन्होंने समझाई उसके द्वारा संस्कृत भाषा के सब अंग प्रकाश से आलोकित हो गए। पाणिनि की सहायता से उनमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालने में किसी को कठिनाई का अनुभव नहीं होता। संसार की कितनी ही प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव में दुरूह बन गई, किंतु संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य दोनों एक समान पाणिनि-शास्त्र से नियमित होने के कारण सब काल में सुबोध बने रहे हैं। संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वहीं तक पाणिनीय शास्त्र का प्रमाण है। पाणिनि का प्रभाव सदा के लिये संस्कृत भाषा पर अक्षुण्ण है; आज भी उसकी मान्यता है। पाणिनि के कारण ही मानो यह भाषा कालग्रस्त नहीं हो सकी।

पाणिनि का यश और अष्टाध्यायी का महत्त्व

पश्चिमी जगत् के विद्वान् जब पाणिनि से परिचित हुए तो उनपर उस शास्त्र के महत्त्व की छाप पड़ी। वेबर ने अपने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को इस कारण सभी देशों के व्याकरण-ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना कि उसमें बहुत बारीकी से धातुओं और शब्द-रूपों की छानबीन की गई है। गोल्डस्टूकर के मत में पाणिनि-शास्त्र संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र के चारों ओर अति प्राचीन काल से अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना होती रही है। भारतीय शास्त्रीय परंपरा की भूमि में पाणिनि की जड़ें सबसे अधिक गहराई तक फैली हैं। पाणिनि के सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं। उन्हें छोटा बनाने में जिन विविध उपायों से काम लिया गया वे उनकी मौलिक सूझ प्रकट करते हैं। किंतु यह संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है, कहीं भी दुरूह नहीं होने पाई। जब से सूत्रों का पठन-पाठन आरंभ हुआ तब से आज तक उनके शब्दों के अर्थ स्पष्ट रहे हैं।

अष्टाध्यायी की रचना से पहले शब्दविद्या का दीर्घकालीन विकास हो चुका था, किंतु अष्टाध्यायी जैसे बृहत् और सर्वांगपरिपूर्ण शास्त्र के सामने पुराने ग्रंथ लुप्त हो गए। लोक में उसी का सर्वोपरि प्रमाण माना जाने लगा। पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक अर्थों को विवृत करना था। यास्क और पाणिनि के समय में जो 'चरण' संज्ञक वैदिक शिक्षा-संस्थाएँ थीं उनकी परिषदों में अनेक प्रकार से शब्द और ध्वनि

के नियमों का ऊहापोह किया गया था। चरण-परिषदों के अतिरिक्त भी कितने ही आचार्यों ने शब्दविद्या के विषय में ग्रंथ रचे थे; उनमें से कुछ का प्रमाण स्वयं पाणिनि ने दिया है। उस विस्तृत सामग्री की पृष्ठभूमि लेकर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया।

पाणिनि ने अपने समय की बोलचाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया। एक प्रकार से अधिकांश सामग्री उन्होंने स्वयं अपने लिये प्राप्त की। पाणिनि के सामने संस्कृत वाङ्मय और लोकजीवन का बृहत् भंडार फैला हुआ था, वह नित्यप्रति प्रयोग में आनेवाले शब्दों से भरा हुआ था। इस भंडार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था उसका उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं रहा जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आए हों। भूगोल, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक जीवन, कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय, सिक्के, नापतोल, सेवा, शासन, राजा, मंत्रिपरिषद्, यज्ञ-याग, पूजा, देवी-देवता, साधु-संन्यासी, रंगरेज, बढ़ई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, बहेलिया—जहाँ तक जीवन का विस्तार है वहाँ तक शब्दों को पकड़ने के लिये पाणिनि का जाल फैला हुआ था। विशेषतः भौगोलिक जनपदों और स्थानों, वैदिक शाखाओं और चरणों तथा गोत्रों और वंशों के नामों से संबंधित बहुत अधिक सामग्री अष्टाध्यायी में संगृहीत हो गई है। इन नामों से बननेवाले जो शब्द भाषा में रातदिन काम में आते थे उनकी रूप-सिद्धि और अर्थों का निश्चय पाणिनि का लक्ष्य था। इन शब्दों और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने (दूराद्धूते च, ८।२।८४), अभिवादन का उत्तर देने (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, ८।२।८३) और प्रश्नोत्तर, डाँट-फटकार आदि के लिये (भर्त्सने ८।२।९५; पृष्टप्रतिवचने, ८।२।९३) जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरों का प्रयोग होता था उनके नियम सूत्रों में दिए गए हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता को बताते हैं।

पाणिनीय शैली की बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने धातुओं से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिये उन्होंने धातुपाठ में लोक में प्रचलित धातुओं का बड़ा संग्रह किया। आज भी इस देश की आर्य-भाषाओं और बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाणिनि द्वारा संगृहीत धातुपाठ सामग्री और अर्थों की दृष्टि से अति मूल्यवान् है। दूसरी ओर पाणिनि ने, जिस

प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं उस प्रक्रिया की, सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदंत प्रत्ययों की लंबी सूची दी है, और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं उनका ज्ञान भी कराया है। यह सरल शैली शब्द-ज्ञान के लिये नितांत सरल और सुबोध हुई। पाणिनि से पहले आचार्य शाकटायन ने भी यह मत स्वीकार किया था कि शब्द धातुओं से बनते हैं; किंतु वैयाकरण शाकटायन ने अपने इस मत को एक आग्रह का रूप दे डाला था और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दों को धातु-प्रत्यय से सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था। शाकटायन के मत की झलक और उसके उदाहरण यास्क ने निरुक्त में दिए हैं। सभी शब्दों को धातुज मानने की शाकटायन-प्रदर्शित पगडंडी पर चलते हुए ही उणादि सूत्रों की रचना हो सकती थी। उनके ठीक कर्ता का पता नहीं; हो सकता है शाकटायन के व्याकरण के ही वे अवशेष हों जिनमें पीछे भी कुछ जोड़-तोड़ होता रहा। दूसरी ओर पाणिनि को किसी मत का आग्रह न था। वे 'मध्यम पटिपदा' या बीच का रास्ता स्वीकार करना अच्छा समझते थे। जहाँ दो मतों का झगड़ा हो, वहाँ पाणिनि मध्यम पथ या समन्वय को पसंद करते हैं। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम के अंतर्गत आती है। किंतु लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है; उसमें कितने शब्द ऐसे भी हैं जिनमें धातु-प्रत्यय की दाल नहीं गलती। हठात् प्रत्यय की थेकली लगाकर उन्हें सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि कभी कभी व्याकरण-शास्त्र की भी हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका संबंध जुड़ जाता है, एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे शब्दों को पाणिनि ने संज्ञाप्रमाण (१।२।५३) कहा है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमें व्याकरण के नियमों की बाँस-वल्ली नहीं लगती, वे जैसे लोक के कंठ में ढल गए हैं। ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता उन्होंने स्वीकार की है (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, ६।३।१०९)। उणादि प्रत्ययों को भी पाणिनि ने अपने शास्त्र में प्रमाण तो मान लिया, किंतु ब्योरेवार उनके पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझी। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) सूत्र लिखकर उन्होंने उणादि शैली से शब्द-सिद्धि करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मोहर तो लगा दी, किंतु 'बहुलम्' कहकर लंबी छूट दे दी कि जो आचार्य जितनी चाहे उतनी चौकड़ियाँ भरे। और भी जहाँ-जहाँ मतों का द्वंद्व था, आचार्य पाणिनि ने समन्वय का दृष्टिकोण स्वीकार किया।

शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति, यह एक पुराना विवाद था। महाभाष्य में इसका लंबा शास्त्रार्थ दिया हुआ है। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गौ-जाति-मात्र है (आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः, १।२।६४।३५)। आचार्य व्याडि का मत था कि गौ शब्द व्यक्ति-रूप केवल एक गौ का वाचक है (द्रव्याभिधानं व्याडिः, १।२।६४।४५)। पाणिनि ने देखा कि इन दोनों मतों में सत्य का अंश है, अतएव अपने दो सूत्रों में उन्होंने दोनों को मान्यता दी। 'जात्याख्यायां एकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१।२।५८) सूत्र में यह माना कि जाति मात्र शब्द का अर्थ है, 'एवं सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र में शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति लिया गया। पतंजलि ने महाभाष्य के आरंभ के पस्पशाह्निक में इस संबंध में पाणिनि की स्थिति को संक्षेप में स्पष्ट कर दिया है।

पाणिनि का महान् शास्त्र अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिये महत्त्व-पूर्ण है कि यास्क के निरुक्त की तरह उसपर एक ही आचार्य के कर्तृत्व की छाप है। वह इस प्रकार का ग्रंथ नहीं है जिसका संकलन चरण-साहित्य के ढंग पर गुरु-शिष्य-परंपरा में पल्लवित होनेवाले शास्त्रीय ज्ञान को इकट्ठा करके किया गया हो। शब्द-सामग्री का संग्रह करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर महान् यत्न से एक ही बार में आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की रचना की। सूत्रों की अन्तःसाक्षी इसी पक्ष में है। रचना के बाद भी पाणिनि के ग्रंथ में बहुत ही कम फेरफार हुआ है। बर्नेल ने लिखा है कि अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक ढाई सहस्र वर्षों की दीर्घ परंपरा के बाद हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रंथ का नहीं (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३१)।

अष्टाध्यायी के सूत्रों में भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति संबंधी जो सामग्री पाई जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की हो सकती है।

अष्टाध्यायी की प्राचीनता को आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं; इस प्राचीनता से भी इस ग्रंथ की सामग्री का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य अष्टाध्यायी की सांस्कृतिक सामग्री पर प्रकाश डालना है। एक प्रकार से यह पाणिनि-शास्त्र की बहिरंग परीक्षा ही है, जो इस शास्त्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर सूत्रों में प्रतिपादित

शब्दों को नया मूल्य प्रदान करेगी और उनमें नई रुचि का संचार करेगी। इस अध्ययन से पाणिनि-शास्त्र की गंभीरता का भी कुछ अनुमान हो सकेगा। प्रायः व्याकरण-शास्त्र को रूखा विषय समझा जाता है, किंतु इस अध्ययन से संभवतः यह विदित होगा कि पाणिनि-शास्त्र कोरी दाँत-किटाकिट नहीं है। उनके अष्टाध्यायी में संस्कृति की जो अमूल्य सामग्री है, उससे प्राचीन लोक-जीवन का जीता-जागता परिचय मिलता है। इसकी सहायता से यदि हम आचार्य पाणिनि के ग्रंथ के समीप एक बार नए उत्साह से अपने मन को ला सकें तो यह परिश्रम सफल होगा।

संस्कृत भाषा का जो पुराना इतिहास था उसके एक गाढ़े समय में पाणिनि का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के समय में ही वैदिक भाषा का युग लगभग समाप्त हो चुका था। नए-नए ग्रंथ, अध्ययन के विषय एवं शब्द सब ओर जन्म ले रहे थे। गद्य और पद्य की एक नवीन भाषा शैली प्रभावशालिनी शक्ति के रूप में सामने आ रही थी। उस भाषा के विस्तार का क्षेत्र उत्तर में कंबोज—प्रकण्व (पामीर फरगना) से लेकर पश्चिम में कच्छ-काठियावाड़, दक्षिण में अश्मक (गोदावरी-तट का प्रदेश) और पूर्व में कलिंग एवं सूरमस (आसाम की सूरमा नदी का पहाड़ी प्रदेश) तक फैला हुआ था, जैसा कि अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से विदित होता है। संभव है इस विशाल प्रदेश में संबंधित बोलियाँ भी रही हों, किंतु एक-छत्र साम्राज्य का पट्टबंध संस्कृत के ही माथे था। संस्कृत भाषा एवं साहित्य की इस प्रकार दिपती हुई चारखूँट जागीरी के एकत्र तेज से पाणिनि के महान् शास्त्र का जन्म हुआ। पाणिनि से पूर्व शब्दविद्या के दूसरे आचार्यों ने इस विस्तृत भाषा को नियमबद्ध करने के प्रयत्न किए थे, किंतु वे एकांगी थे; संभवतः एक दूसरे से टकराते भी थे और शब्दों के रूप और नियम भी उनमें पूरी तरह घिरकर न आ सके थे। किंतु पाणिनि का शास्त्र विस्तार और गांभीर्य की दृष्टि से इन सबमें सिरमौर हुआ। वह उस स्थिर सरोवर के समान है, जिसमें निर्मल जल भरा हो और जिसमें उतरने के लिए पक्के घाट बँधे हों। पाणिनि ने अपने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, दृढ़ परिश्रम, सूत्र रचने की कुशलता एवं विपुल सामग्री की सहायता से जिस अनोखे व्याकरण शास्त्र की रचना की, उसने सचमुच ही तत्कालीन संस्कृत भाषा की समस्या का एक बड़ा समाधान देशवासियों के लिये किया। तभी तो लोक में एक स्वर से पाणिनि-शास्त्र का स्वागत करते हुए यह किलकारी उठी—

पाणिनीयं महत्सुविहितम्। (भा० ३।२।३)

अर्थात् पाणिनि का महान् शास्त्र सुविरचित है।

काशिका के अनुसार सारे लोक में पाणिनि का नाम छा गया (पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते, २।१।६); सर्वत्र 'इति पाणिनि' की धूम हो गई। पाणिनि की इस सफलता का स्रोत लोक की दृष्टि में ईश्वरीय शक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता था ? इसी कारण यह अनुश्रुति प्रचलित हुई कि शब्द के आदि आचार्य भगवान् शिव की कृपा से पाणिनि को नया व्याकरण-शास्त्र प्राप्त हुआ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में लगभग चार सहस्र सूत्र हैं, अथवा ठीक गिनती के अनुसार ३६६५ हैं, जिनमें 'अ इ उ ण्' 'ऋ ऌ क्' आदि अक्षर-समाम्नाय के चौदह प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं। पाणिनि ने सूत्रों की शैली में अत्यंत ही संक्षिप्त अक्षरों के द्वारा ग्रंथ की रचना की। सूत्र-शैली पाणिनि से पूर्व ही आरंभ हो चुकी थी। ब्राह्मण-ग्रंथों के बृहत्काय पोथों की प्रतिक्रिया-रूप सूत्रों की सुंदर हृदयग्राही शैली का जन्म हुआ था। संसार की साहित्यिक शैलियों में भारतवर्ष की सूत्र-शैली की अन्यत्र उपमा नहीं है। यों तो श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों एवं प्रातिशाख्य आदि वैदिक परिषदों के ग्रंथों में सफलतापूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हो चुका था, किंतु उसी को अच्छी तरह से माँजकर इस शैली की पूर्ण शक्ति और संभावना के साथ उसे काम में लाने का श्रेय पाणिनि को ही है। सूत्रशैली को माँजने की कल्पना पाणिनि के मन में थी। प्रयत्नपूर्वक माँजे और निखारे हुए सूत्र को उन्होंने 'प्रतिष्णात' कहा है (सूत्रं प्रतिष्णातम्, ८।३।९०)। अतएव 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि के लिये प्रचलित हुई। महाभाष्य में पतंजलि ने एक प्राचीन उदाहरण देते हुए सूत्रकार पद पाणिनि के लिये ही प्रयुक्त किया है (पाणिनेः सूत्रकारस्य, २।२।११)।

पाणिनि से पूर्व भी व्याकरणशास्त्र की रचना हुई, परंतु उस समय लक्ष्य और लक्षण अर्थात् शब्द और उनकी सिद्धि के नियम, इन दोनों को मिलाकर व्याकरण समझा जाता था। पतंजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द की अलग-अलग साधनिका में न जाकर, अथवा उसके शुद्धरूप का पृथक् पृथक् उपदेश न करके, पाणिनि ने सामान्य और विशेष नियमों को स्थिर करके सूत्र बनाए (न हि पाणिनिना शब्दः प्रोक्तः, किन्तर्हि, सूत्रम्, पस्पशाह्निक वा० १३)। व्याकरणशास्त्र को सूत्रों में ढालने के लिये 'व्याकरणं सूत्रयति', यह प्रयोग ही चल पड़ा (३।१।२६)।

उसके बाद कात्यायन ने अपने वार्तिक सूत्र-शैली में ही लिखे, एवं व्याकरण लिखने के लिये सूत्रों की परिपाटी लगभग दो सहस्र वर्ष बाद तक भी चलती रही, परंतु 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि को ही प्राप्त हुई।

सूत्रकार और शब्दकार, ये दोनों संज्ञाएँ पाणिनि के ही एक सूत्र 'न शब्द श्लोक कलह गाथा वैर चाटु सूत्र मन्त्र पदेषु' (३।२।२३) में साहित्यिक शैलियों का परिगणन करते हुए आई हैं। वैयाकरणों के लिये 'शब्दकार' और 'शाब्दिक' संज्ञाओं का भी प्राचीन काल में प्रयोग होता था। व्याकरण को पाणिनि ने भी 'शब्दसंज्ञा' कहा है (स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्द संज्ञा, १।१।६८; अभिनिसस्तनः शब्दसंज्ञायाम्, ८।३।६)। सूत्र ४।४।३४ में 'शब्दं करोति शाब्दिकः' पद भी पाणिनि ने सिद्ध किया है। पाणिनि के समय में वैयाकरण शब्द भी चल चुका था, जैसा कि 'वैयाकारणाख्यायां' (६।३।७) प्रयोग से ज्ञात होता है, लेकिन अधिकांश में व्याकरण उस समय शब्दशास्त्र ही कहलाता था। पीछे चलकर इसका प्रयोग कम और व्याकरण शब्द का अधिक हो गया।

पाणिनि के विषय में कात्यायन का दृष्टिकोण

कात्यायन पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं एक प्रकार से व्याख्याता हुए हैं। उनका व्याकरण-विषयक निजी ज्ञान उच्च कोटि का था। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन्होंने सूत्रों की पृष्ठभूमि का परिचय दिया एवं उस संबंध में होनेवाले अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक ढंग से समीक्षा की। उन्होंने सूत्रों पर नए विचारों की उद्भावना की, कालांतर में जहाँ नए प्रयोग उत्पन्न हो गए थे वहाँ पाणिनि-सूत्रों के साथ उन्हें मिलाने का सुझाव दिया और व्याकरण संबंधी सिद्धांतों के जो मत-मतांतर थे उनपर शास्त्रार्थ चलाया, जो कहीं कहीं ५६ वार्तिकों तक लंबा खिंच गया है (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ, सूत्र १।२।६४)। कहीं उन्होंने पाणिनि के सूत्रों में पढ़े हुए शब्दों का मंडन किया है, कहीं दूसरों से उठाई हुई शंकाओं का उत्तर दिया है, कहीं दूसरों की शंकाओं की निस्सारता दिखाकर नई दृष्टि से पाणिनि के सूत्रों के शंका-स्थलों का संकेत किया है, और कहीं अपनी-पराई सभी शंकाओं का निराकरण करके सूत्र की शुद्धता का मंडन किया है, एवं जहाँ उन्हें जँचा, वहाँ सूत्र अथवा उसके एक भाग की अनावश्यकता भी दिखाई है। उनके वार्तिकों की संख्या लग-

भग ४२६३ हैं, जो उनके अपरिमित पाणिनि-विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का शास्त्र एकदम तप गया।

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में वह घड़ी बड़े दुर्भाग्य की थी जब यह ऊल-जलूल कहानी गढ़ी गई कि पाणिनि और कात्यायन में लागडाँट थी और पाणिनि के यश से कुढ़कर उन्हें नीचा दिखाने के लिये कात्यायन ने वार्तिकों का घटाटोप खड़ा किया। पीछे यह बात इतनी घर कर गई कि शबरस्वामिन् जैसे महाविद्वान् की लेखनी से लिखा गया—'सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचनं प्रमाणं, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य' (मीमांसा भाष्य, १०।८।१), अर्थात् ठीक कहनेवाले पाणिनि का वचन प्रमाण, बे-ठीक कहनेवाले कात्यायन का नहीं। आज भी शेखचिल्ली की इस कहानी को कहते-सुनते यह अनुभव नहीं किया जाता कि इसके द्वारा एक महान् वैयाकरण के प्रति अन्याय करते हुए हम अपने ही शास्त्र के पैरों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। कहाँ कात्यायन का पाणिनि-विषयक गहरा परिश्रम एवं सूक्ष्म विचार, और कहाँ उसके प्रति यह उदासीनता! सच बात तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिक-सूत्रों की रचना करके पाणिनीय शास्त्र को जीवनदान दिया। कात्यायन और पतंजलि का पाणिनि-विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ एक जैसा है। किन्हीं-किन्हीं सूत्रों में तो पतंजलि त्रुटियों की उद्भावना करने में कात्यायन से आगे निकल गए हैं। शंकाओं की उद्भावना, उनपर यथार्थ विचार और उनका समाधान—यही व्याकरणशास्त्र के विचार की प्राचीनतम परिपाटी थी। इसी का अनुसरण कात्यायन और पतंजलि ने किया, एवं इसी शैली से दो सहस्र वर्षों तक संस्कृत के विद्वान् विचार करते रहे हैं।

कात्यायन के वार्तिक पतंजलि के महाभाष्य की कुंजी हैं। किसी सूत्र के वार्तिकों को अलग छाँटकर उनपर विचार करें तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की एक स्पष्ट लड़ी सरल शब्दों में गुँथी हुई मिल जाती है। पतंजलि के भाष्य में दो प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं। जहाँ तक वार्तिकों का संबंध है, उन्होंने एक-एक शब्द अलग करके अर्थ समझाया है। इस सरल शैली का नाम चूर्णिका है। इसके अतिरिक्त जहाँ व्याकरण के सिद्धांतों का ऊहापोह-विषयक विचार चलता है, वहाँ की शैली दूसरे प्रकार की हो जाती है—भारी-भरकम, ओजस्वी और सिंहमुखी; जिस प्रकार हाथी सारे शरीर को घुमाकर पीछे देखता है उस प्रकार की नागावलोकन दृष्टि से वह विषय से आमने-सामने जूझती है। पहली चूर्णक है, दूसरी तंडक। भाष्य की

इन दो शैलियों के बीच में अंतर्यामी सूत्र की तरह विषय को पिरोनेवाले कात्यायन के वार्तिक हैं। भाष्य मुख्यतः कात्यायन के वार्तिकों पर आश्रित है।

इस प्रकार वार्तिकों का सर्वातिशायी महत्त्व प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में था। स्वयं कात्यायन वार्तिकों की रचना करने के बाद पाणिनि के प्रति अत्यंत श्रद्धावान् हो उठे और अपना अंतिम वार्तिक उन्होंने इस प्रकार के भक्ति-भरे शब्दों में समाप्त किया—'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्।'

पतंजलि का दृष्टिकोण

पतंजलि का महाभाष्य पाणिनि-शास्त्र के इतिहास में सबसे बड़ी घटना हुई। अनेक जलधाराओं के वर्षण से जैसे बढ़िया आ जाय और उस जलौघ को एकत्र करके किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाय, उसी प्रकार व्याकरण के विशाल क्षेत्र पर जो विचार-मेघ बरसे थे उन सब जलों का संग्रह करके पतंजलि ने महाभाष्य के द्वारा उन्हें सदा के लिये व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की महानदी के साथ मिला दिया। पाणिनि और कात्यायन के शास्त्रों का सुचिंतित अध्ययन करते हुए पतंजलि के अपने पांडित्य और विलक्षण व्यक्तित्व की अमिट छाप महाभाष्य में लगी हुई है। जिस क्षेत्र को उन्होंने अपना बनाया था, जिसके वे एक प्रकार से चक्रवर्ती थे, उसी क्षेत्र में पाणिनि की महिमा और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी कात्यायन की भाँति पाणिनि के लिये 'भगवान्' पद का प्रयोग किया। उन्होंने कात्यायन को भी एक बार इस विरुद से अलंकृत किया (भाष्य ३।२।३), और उन्हीं की भाँति महाभाष्य के अंत में पाणिनि को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। (भा० ८।४।६८)

पतंजलि ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य (अर्थात् जिन्होंने अपने ग्रंथ का आरंभ मांगलिक शब्द और भावना से किया, जिससे उसकी परंपरा देश और काल में चिरजीवी हो, १।१।१,१।३।१) लिखा है। कहा है कि आदि में मंगल, मध्य में मंगल और अंत में मंगल करनेवाले शास्त्र लोकमंगल के साथ विस्तार को प्राप्त होते हैं। निस्संदेह 'वृद्धि' शब्द से प्रारंभ होनेवाला पाणिनि का ग्रंथ, जिसे पतंजलि ने महान् शास्त्रौघ अर्थात् शास्त्र का विस्तृत महार्णव (भा० १।३।१) कहा है, लोक में अपूर्व सफलता को प्राप्त हुआ और उसके द्वारा राष्ट्र की भाषा, विचारशैली एवं संस्कृति का महान् कल्याण हुआ।

पतंजलि के समय में पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन आरंभिक कक्षाओं तक फैल गया था। उन्होंने लिखा है—

आकुमारं यशः पाणिनेः (भा० १।४।८९) एषास्य यशसो मर्यादा।

काशिका के अनुसार पाणिनि का व्याकरण जब लोक में फैला तो चारों ओर उसका प्रमाण मानते हुए 'इतिपाणिनि' 'तत्पाणिनि' ध्वनि सुनाई पड़ने लगी (का० २।१।६)।

पतंजलि ने स्पष्ट ही पाणिनि को 'प्रमाणभूत आचार्य' की सम्मानित उपाधि दी है (भा० १।१।३९)। किस प्रकार अपने गंभीर उत्तरदायित्व का अनुभव करते हुए पाणिनि शास्त्र-रचना में प्रवृत्त हुए, इसका चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।

अर्थात् प्रमाणकोटि में पहुँचे हुए आचार्य ने कुशा से हाथ पवित्र करके पूर्वाभिमुख बैठकर मस्तिष्क के बड़े प्रयत्न से सूत्रों की रचना की। उसमें एक अक्षर के भी निष्प्रयोजन होने की गुंजाइश नहीं, सारे सूत्र की तो बात ही क्या (भा० १।१।१, वा० ७)।

इस प्रकार की रगड़ करके जो निखरा हुआ शास्त्र रचा गया उसके प्रति विद्वानों में पूज्य बुद्धि होना स्वाभाविक था। इससे ही उस रोचक परिभाषा का जन्म हुआ जिसमें कहा गया है कि सूत्र में आधी मात्रा कम हो जाने से वैयाकरण को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र-जन्म से—अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १२२)। लाघव पर इतना ध्यान देते हुए भी पहिले के वैयाकरण सूत्रों को प्रसन्न और सरल रखते थे। पाणिनि के सूत्रों की प्रसन्न भाषा कहीं कहीं बहुत हृदयग्राहिणी हो गई है। जैसे सोममर्हति यः, (४।४।१३७, मनु के 'सोमं पातुमर्हति', ११।८ से तुलना कीजिए); धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१); क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२); साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१, दो स्वरों के छोटे से 'साक्षी' शब्द की सिद्धि के लिये आठ स्वरों वाला बड़ा सूत्र आचार्य ने बनाया है)। किन्हीं किन्हीं सूत्रों में पाणिनि के शब्दों का प्रवाह असाधारण रूप से बह निकला है। जैसे 'इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा'

(५।२।६३)। केवल 'इन्द्रियं' इतना सूत्र रखकर भी 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि हो सकती थी, परंतु पाणिनि से पूर्व के ब्राह्मण-ग्रंथों और निरुक्तादि ग्रंथों में 'इन्द्र' और इन्द्रिय' के पारस्परिक अर्थों के संबंध को लेकर बहुत कुछ ऊहापोह हो चुका था, उसमें से पाँच उदाहरण उन्होंने सूत्र में रख लिए और शेष के लिये 'इति वा' कहकर गुंजाइश कर दी। इस सूत्र में इंद्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा का इंद्रियों के साथ जो महत्त्वपूर्ण संबंध है, उपनिषद् और सूत्रकाल के दार्शनिक क्षेत्रों में उसकी चर्चा थी। उसके प्रति मान्य बुद्धि रखकर पाणिनि ने शब्दों के बढ़ने की परवाह न करते हुए भिन्न-भिन्न मतों को अपने व्याकरण में भी स्थान देना उपयुक्त समझा। यह सूचित करता है कि आचार्य का हृदय सार-वस्तु को लेने में कितना उदार था और उनकी शैली कितनी हृदयग्राहिणी थी। पंतजलि ने आचार्य की इस सरल प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्हें 'सुहृद्भूत' कहा है (तदाचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे, भा० १।२।३२)। पाणिनि की सूत्रशैली को क्लिष्ट कहना उसके प्रति अपने हृदय के सरस भावों को कुंठित कर लेना है।

पाणिनि के लिये पतंजलि ने 'अनल्पमति आचार्य' (१।४।५१) विशेषण का प्रयोग किया है। पाणिनि के मस्तिष्क की विशालता इससे प्रकट है कि वे शब्दों की लगभग अपरिमित सामग्री को संचित, व्यवस्थित और सूत्र-संनिविष्ट कर सके। उनकी तर्कबुद्धि और निश्चित शैली का विद्वानों ने लोहा माना है; शताब्दियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्वानों को उसने प्रभावित किया है।

पतंजलि ने एक स्थान पर पाणिनि को 'वृत्तज्ञ आचार्य' (भा० १।३।३।६, वा० १५) कहा है। अर्थात् शब्दों का अर्थों के साथ जो संबंध है, अर्थों को प्रकट करने के लिये जो प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं, तथा शब्दों के रूपों में जो परिवर्तन होते हैं या उनके अनुसार प्रत्ययों में गुण-वृद्धि करानेवाले जैसे जैसे अनुबंध रखे जाते हैं—इन तीनों बातों को पाणिनि पूरी तरह जानते थे। शब्द अपने सीधे-सादे रूप में जो अर्थ रखता है उससे अधिक किसी विशेष अर्थ को जब हम उससे प्रकट करना चाहते हैं, तब उसमें प्रत्यय जोड़ते हैं। प्रत्यय शब्द के साथ मिलकर नया अर्थ देने लगता है। उदाहरण के लिये 'वर्ष' का अपना अर्थ है 'साल'। 'साल भर में होनेवाला'—इस विशेष अर्थ के लिये नया शब्द बनाया जाता है 'वार्षिक'। 'वर्ष' शब्द में 'इक्' प्रत्यय जुड़कर 'वर्ष में होनेवाला', इस नए अर्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य उत्पन्न करता है। सब भाषाओं का लगभग यही नियम है।

प्रत्यय द्वारा विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शब्द की क्षमता है उसे व्याकरण में 'वृत्ति' कहा गया है (परार्थाभिधान वृत्तिः)। प्रत्येक भाषा में मनुष्यों के व्यवहारों के अनुसार हजारों तरह के अर्थ शब्दों से प्रकट होते हैं। संस्कृत में भी ऐसा ही था, और आज हिंदी में भी यही नियम है। जैसे, 'चवन्नी' का सीधा अर्थ चार आने मूल्य का एक विशेष सिक्का है। लेकिन जब हम 'चवन्नी चरितावली' कहते हैं तब चवन्नी शब्द में विशेष अर्थ भर जाता है। 'चवन्नी मूल्य में मिलने वाली'—यह विशेष अर्थ मूल चवन्नी शब्द में जोड़ते हैं। व्याकरण-शास्त्र चाहता है कि इस विशेष अर्थ के लिये एक प्रत्यय लगाना चाहिए, फिर चाहे वह प्रत्यय शब्द में दिखाई पड़े या भाषा के महावरे के साथ उसका लोप हो गया हो। 'कश्मीरी दुशाला' प्रयोग में 'कश्मीरी' शब्द का 'ई' प्रत्यय कश्मीर में काढ़ा जाने-वाला, कश्मीर से आनेवाला, इन कई अर्थों को प्रकट करता है। कश्मीर के निवासी (कश्मीरी), कश्मीर में होनेवाला (कश्मीरी चावल), कश्मीर में बोली जानेवाली (कश्मीरी बोली) आदि और भी इस प्रकार के कई अर्थ 'ई' प्रत्यय से प्रकट होते हैं। यह लोक-जीवन और भाषा का सत्य है। व्याकरण का विद्यार्थी अपनी ओर से न प्रत्यय बनाता है और न अर्थ, वह तो उनका अलग अलग विश्लेषण करके उन्हें समझने का प्रयत्न करता है, और जो लोक में चालू शब्द हैं उनके अनुसार प्रत्ययों को अलग करके देखता है।

पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये भी यही काम किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के संबंधों और रूपों को परखा, छाना और अलग किया। लोक में जितनी भी प्रकार की शब्दों के द्वारा अर्थविशेष प्रकट करने की वृत्तियाँ थीं उनकी सूची बनाकर अष्टाध्यायी में उन्हें स्थान दिया। इसके लिये प्रायः मनुष्य-जीवन के संपूर्ण व्यवहारों की जाँच-पड़ताल उन्हें करनी पड़ी होगी। व्याकरण के क्षेत्र में यही पाणिनि ने बड़ा साका किया। न उनसे पहिले और न उनसे पीछे, भाषा में इस प्रकार शब्दों और अर्थों के पारस्परिक संबंधों की छानबीन की गई थी। उनकी पैनी आँख से जीवन का कोई भी क्षेत्र बचा न रहा। अष्टाध्यायी के चौथे और पाँचवें अध्यायों में तद्धित का जो महा-प्रकरण है वह अर्थविशेषों को कहनेवाली वृत्तियों का अखूट भंडार है। उदाहरण के लिये, पढ़ना-पढ़ाना, ग्रंथ लिखना, कंठ करना, दोहराना, पाठ सुनाने में एक-दो-चार भूलें करना, ग्रंथ घोखते समय कड़े चबूतरे पर सोना, चुप रहना, गुरुकुल-विशेष का विद्यार्थी होने के कारण हेंकड़ी मारना या दूसरों पर अधिकार जताना, विद्यालय में

भरती होना, समान आचार्य से पढ़ना, छोटे छात्रों का डंडा लेकर चलना, बड़े छात्रों का एक साथ मिलकर पारायण करना, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओं के अनुसार पठन-पाठन की व्यवस्था करना, जिस ऋतु में जो विषय पढ़ा जाय उसके अनुसार उसका नाम पड़ना, 'चरण' नामक जो वैदिक शाखाओं के विद्यालय थे उनका सदस्य होना, उनमें रचे गई ग्रंथों का नाम रखना, श्लोक-गाथा-सूत्र-मंत्र-पद आदि भिन्न-भिन्न साहित्यिक शैलियों के अनुयायी साहित्यसेवियों के नाम रखना, मूल ग्रंथ और उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि के रचनेवाले ग्रंथकर्ताओं अथवा उनके पढ़नेवाले छात्रों का नाम रखना, छुट्टियाँ मनाना, विद्यालय के नियमों का उल्लंघन करना, अवधि से पहिले संस्था से हट जाना, विशेष ग्रंथ या विषयों के अध्ययन के लिये एक पाख, महीना, छः मास, वर्ष, दो वर्ष या दस-बीस वर्ष के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर विद्यालय में भरती होना, विषय पढ़कर दूसरे विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करना, उसके सिद्धांतों की व्याख्या करना, दूसरे का मत काटकर अपना मत स्थापित करना—इस प्रकार केवल पठन-पाठन के क्षेत्र में ही भिन्न-भिन्न अर्थ थे, जिनपर पाणिनि का ध्यान गया (तत्संबंधित सूत्रों का विवेचन यथास्थान किया जायगा)। उन्होंने लोक-जीवन में भरी हुई इस सामग्री का उमँगकर स्वागत किया। फलस्वरूप आज अष्टाध्यायी के पृष्ठों में जीवन की ऐसी सरसता है जैसी संस्कृत भाषा के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं पाई जाती। यहाँ पदे-पदे शब्द पुराकालीन संस्थाओं का रूप भरे बैठे हैं। पाणिनिशास्त्र निस्संदेह तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का विश्वकोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, विद्या-संबंधी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक और दार्शनिक जीवन—सबके विषय में राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री की महा-हिमवंत-शृंखला ही खड़ी कर दी है। उसी का नाम अष्टाध्यायी है।

व्यास नदी के उत्तरी किनारे पर बाँगर में जो कुएँ थे वे पक्के होते थे। उनके नामों में स्वर का उच्चारण एक विशेष ढंग का था। उसके बाएँ किनारे के खादर के कछार में पानी की बढ़िया के कारण पक्के कुएँ न बन सकते थे, इसलिये हरसाल कच्चे कुएँ खोदे जाते थे और इन कच्चे कुओं के नाम भी टिकाऊ न होते थे। यह विशेषता उन नामों के स्वर या बोली में अक्षरों पर गौरव देकर प्रकट की जाती थी। यह बारीक भेद भी आचार्य की दृष्टि से बचा न रहा और 'उदक्च विपाशः' (४।२।७४) सूत्र में उन्होंने इसे प्रकट किया। उनकी इस महीन छानबीन से प्रभावित होकर प्राचीन आचार्यों ने कहा—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। (का० ४।२।७४)

'सूत्रकार की निगाह बहुत ही पैनी थी।'

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने उनके जन्मस्थान शलातुर में जाकर उनका जो जीवनवृत्त संगृहीत किया उसमें कहा है कि ऋषि पाणिनि आरंभ से ही मनुष्य और जीवन की वस्तुओं के संबंध में विस्तृत जानकारी रखते थे। पाणिनि ने स्वसंचित सामग्री के आधार पर गोत्र, चरण, शाखा, जनपद, नगर, ग्राम आदि की बहुत अच्छी सूचियाँ अपने गणपाठ में दी हैं। गणपाठ की सूझ उनकी अपनी थी। व्हिटनी और बर्नेल, पाणिनि-शास्त्र के इन दोनों विद्वानों ने स्वीकार किया है कि पाणिनि से पूर्व गणपाठ की प्रथा न थी। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि आचार्य ने पहिले गणपाठ बनाया, पीछे सूत्रपाठ, (सः पूर्वः पाठोऽयं पुनः पाठः, भा० १।१।३४)।

शास्त्रकार का नाम

अष्टाध्यायी के रचयिता का नाम पाणिनि है। कात्यायन और पतंजलि ने यही नाम प्रयुक्त किया है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवर कांड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओं के अंतर्गत एक अवांतर गोत्र का नाम था जिसके पाँच प्रवर थे— भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। पाणिनि ने स्वयं भी अष्टाध्यायी के एक सूत्र में (६।४।१६५) 'पणिन् के अपत्य' अर्थ में 'पाणिन' शब्द सिद्ध किया है। कैय्यट के मत से 'पाणिन' के युवा अपत्य की संज्ञा 'पाणिनि' होगी (प्रदीप, १।१।७३ वा० ६, पणिनोऽपत्यमिति अण् पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः)।

त्रिकांडशेष और केशव कोषों के अनुसार आहिक, शालंकि, दाक्षीपुत्र और शालातुरीय नाम भी पाणिनि के लिये परंपरा से चले आते थे। आहिक और शालंकि नामों के समर्थन या व्याख्या में विशेष प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। महाभाष्य में शालंकी के युवा छात्रों का उल्लेख है, जो शालंक कहलाते थे। किंतु इतने से पाणिनि के साथ उनका संबंध ज्ञात नहीं होता।

वेबर की सम्मति में शालंकियों का संबंध वाहीक देश से था (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८)। वाहीक उदीच्य के क्षेत्र में गिना जाता था और पाणिनि भी उदीच्य देश के ही थे। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि को निश्चित

रूप से गंधार देश का कहा है। पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर गंधार में ही थी, जिसके कारण पाणिनि शालातुरीय कहलाए।

पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा है (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः, भा० १।१।२०, वा० ५)। दाक्षों का संबंध निश्चित रूप से पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका में प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि दाक्ष लोगों का अपना एक संघ-राज्य था, जिसकी अपनी बस्ती और अपने ही अंक और लक्षण (राज्य-चिह्न) भी थे, जैसा कि उस समय के संघों की प्रथा थी (दाक्षः संघः, दाक्षः अंकः, दाक्षं लक्षणं, दाक्षो घोषः, ४।३।१२७)।[1] अन्यत्र दाक्षिकूल और दाक्षिकर्षू इन दो गाँवों के नाम काशिका में आए हैं (६।२।१२९)। दाक्षिकर्षू अवश्य ही प्राचीन नाम था, क्योंकि पतंजलि ने भी दाक्षिकर्षू नामक गाँव का उल्लेख किया है, जहाँ का रहनेवाला दाक्षिकर्षुक कहलाता था (भा० ४। २। १०४ वा० ७)। कर्षू श्रौतसूत्रों में गढैया के अर्थ में आया है। पाणिनि के एक सूत्र में उशीनर देश के गाँवों (कंथा) के नाम हैं (संज्ञायां कंथोशीनरेषु, २।४।२०)। 'दाक्षिकंथा' इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण है। इससे ज्ञात हुआ कि यह स्थान उशीनर देश से बाहर था। उशीनर की सीमा में होता तो यह स्थान 'दाक्षिककंथं' कहलाता। स्वयं पाणिनि उशीनर को वाहीक देश का एक अंश कहते हैं (४।२।११७-११८)। दाक्षों का संबंध प्राच्य देश से भी न था, ऐसा काशिका ने लिखा है (प्राच्यभरतेष्विति किं, दाक्षाः, ४।२।११३)। पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए देशों का क्रम इस प्रकार था—प्राच्य, भरत (कुरुक्षेत्र का प्रदेश, जिसे प्राच्य भरत भी कहते थे), उशीनर, मद्र, उदीच्य। (गोपथ-ब्राह्मण में मद्रों के बाद उदीच्यों का उल्लेख है, गोपथ, १।२।१०)। उशीनर और मद्र इन दोनों की संयुक्त संज्ञा वाहीक थी। निष्कर्ष यह कि दाक्षि लोग प्राच्य देश से, भरत जनपद से और उशीनर से बाहर और भी पश्चिम की ओर बसे थे। पंजाब में शोरकोट का इलाका प्राचीन उशीनर था। चनाब और जेहलम से उत्तर-पश्चिम गंधार कहलाता था। वहीं कहीं दाक्षियों का स्थान होना चाहिए।

१—इसके अतिरिक्त और भी दाक्षिग्रामः (६।२।८४, दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन्ग्रामे सः), दाक्षिकटः, दाक्षिपल्वलः, दाक्षिह्रदः, दाक्षि बदरी, दाक्षिपिंगलः, दाक्षिपिशंगः, दाक्षिशालः, दाक्षिरक्षः, दाक्षिशिल्पी, दाक्ष्यश्वत्थः, दाक्षिशाल्मलिः, दाक्षिपुंसा, दाक्षिकूटः (६।२।८५)।

शलातुर

शलातुर से जिसके पुरखों का निकास हो वह शालातुरीय कहलाता था। ये दोनों शब्द पाणिनि के सूत्र में आए हैं (४।३।९४)। अतएव इस स्थान की प्राचीनता निश्चित है। गणरत्न-महोदधि के लेखक वर्धमान और भामह पाणिनि को शालातुरीय लिखते हैं। वलभी के एक शिलालेख में पाणिनि-शास्त्र को शालातुरीय तंत्र कहा गया है (शीलादित्य सप्तम का लेख, फ्लीट, गुप्त शिलालेख, पृष्ठ १७५)।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् सप्तम शताब्दी के आरंभ में मध्य-एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर में ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भांड से लगभग बीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यह वही जगह है जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, जिन्होंने शब्दविद्या की रचना की थी (बील, सियुकि १।११४)। शलातुर की पहचान लहुर नामक गाँव[2] के साथ की गई है, जहाँ बहुत से पुराने टीले हैं। उनमें खुदाई भी की गई है और वहाँ से कुछ पुरानी मूर्तियाँ भी मिली हैं (कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, २।९५; प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ६६-६७)।

पाणिनि के जीवनवृत्त से संबंधित अनुश्रुति

सोमदेव के कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शती) और क्षेमेंद्र की बृहत्कथा-मंजरी (ग्यारहवीं शती) में, जो गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आश्रित है, पाणिनि के संबंध में इतिवृत्त कहानी के रूप में मिलता है। इसके अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के मंदबुद्धि शिष्य थे। फिसड्डीपन से दुःखित होकर पाणिनि तप करने

२—काबुल और सिंधु के संगम पर ओहिंद (प्राचीन उद्भांडपुर) है, वहाँ से ठीक ४ मील उत्तर-पश्चिम की ओर लहुर गाँव है। मरदान से ओहिंद जानेवाली बसें लहुर होकर जाती हैं। इस समय नार्थ-वेस्टर्न रेलवे जहाँ अटक के पुल से सिंधु पार जाती है वहाँ जहाँगीरा स्टेशन पर उतरने से १२ मील चलकर लहुर पहुँच सकते हैं। श्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि शलातुर के लोग, जो पाणिनि-शास्त्र के अध्येता हैं, उनके उदात्त गुणों की प्रशंसा करते हैं और एक मूर्ति जो उनकी स्मृति में बनाई गई थी, अभी तक विद्यमान है (सियुकि, १।११६)। शलातुर के पास सिंधु नदी के दाहिने किनारे पर नाव लगती थी। सिंधु के पूर्वी किनारे पर शकर-दर्रा (शकद्वार) नामक गाँव है, वहाँ से प्राप्त एक खरोष्ठी लेख में नावों के इस घाट को शलातुर के नाम पर शल-नो-क्रम (शलानौक्रम) कहा गया है।

हिमालय पर चले गए और वहाँ शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण प्राप्त किया (प्राप्तं व्याकरणं नवम्)। कात्यायन छात्रावस्था में और उसके बाद भी पाणिनि के प्रतिद्वंद्वी थे। पाणिनि के व्याकरण ने प्राचीन ऐंद्र व्याकरण की जगह ले ली। नंदवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता हो गई और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया।

मंजुश्री-मूलकल्प

अभी हाल में मिले बौद्ध संस्कृत साहित्य के इस संग्रह-ग्रंथ (लगभग आठवीं शती) में नंद और पाणिनि के विषय में लिखा है—

'पुष्पपुर में शूरसेन के अनंतर नंद राजा होगा। वहाँ मगध की राजधानी में अनेक विचारशील विद्वान् (तार्किक) राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि उसका मंत्री होगा। राजा का परम मित्र पाणिनि नामक एक ब्राह्मण होगा।'

राजशेखर ने काव्यमीमांसा (नवीं शती) में इस अनुश्रुति की अनुपरंपरा में ही यह उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकार-परीक्षा हुआ करती थी।[3] उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल और व्याडि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया। ये सब आचार्य शास्त्रों के प्रणेता हुए हैं। राजशेखर ने संभवतः इन नामों का परिगणन तिथिक्रम के अनुसार किया है। उपवर्ष मीमांसा और वेदांत-सूत्रों के भाष्यकार थे (शांकर भाष्य ३।३।५३, जेकोबी, अमरीकी प्राच्य-परिषद् पत्रिका, १९१२, पृष्ठ १५)। शंकराचार्य ने शब्द के विषय में भगवान् उपवर्ष के मत का प्रमाण दिया है (शारीरक भाष्य ३।३।५३, १।३।२०)। उपवर्ष के भ्राता आचार्य वर्ष पाणिनि के गुरु कहे गए हैं। पाणिनि प्रसिद्ध शास्त्रकार हैं ही, उन्होंने अपना नया व्याकरण पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के सामने प्रस्तुत किया होगा। छन्दोविचिति (सूत्र ४।३।७३, गण पाठ) के कर्ता पिंगल को षड्गुरु-शिष्य ने वेदार्थ-दीपिका टीका में पाणिनि का अनुज कहा है। व्याडि भी पाणिनि के समकालीन दक्ष गोत्र में ही उत्पन्न उनके संबंधी कहे जाते हैं। व्याडि ने सूत्र-शैली में व्याकरणशास्त्र पर अपना संग्रह नामक ग्रंथ रचा था, जो पतंजलि के सामने था। पतंजलि ने इस ग्रंथ की शैली और मार्मिक विवेचन की

३—श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः; वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥

प्रशंसा की है (शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः, भा० २।३।६६)। संग्रह-सूत्रों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पतंजलि के समय 'सांग्रह सूत्रिक' कहलाते थे (भा० ४।२।६०)। उक्त सूची में कात्यायन और पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के समय में (दूसरी शताब्दी ई० पू०) हुए। इस प्रकार लगभग तीन शताब्दियों का शास्त्र-कार परीक्षा संबंधी इतिहास राजशेखर में पाया जाता है।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् का वर्णन

पाणिनि के जीवन के संबंध में सामग्री थोड़ी है, फिर भी चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (६२६,६४५ ई०) ने शलातुर में स्वयं जाकर जो सूचनाएँ एकत्रित कीं उन्हें विश्वसनीय माना जा सकता है, विशेषतः जहाँ सोमदेव, राजशेखर, मंजुश्री-मूलकल्प और चीनी वर्णन एकमत हों। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के व्यक्तित्व पर जो प्रकाश डाला है उसका समर्थन पतंजलि के महाभाष्य से भी होता है। शब्दविद्या के निर्माता पाणिनि का जन्म शलातुर में हुआ, यह बताते हुए श्यूआन् चुआङ् लिखता है—

अति प्राचीन समय में साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से संसार का ह्रास हुआ और एक प्रकार से सब शून्य हो गया। तब देवों ने ज्ञान की रक्षा के लिये पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा (व्याकरण) का विस्तार होने लगा और पहली सीमाओं से बहुत बढ़ गया। ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने आवश्यकता के अनुसार शब्दों के रूप स्थिर किए (नियम बनाए)। ऋषियों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य इनका अध्ययन करते रहे, किंतु जो मंदबुद्धि थे वे इनसे काम चलाने में असमर्थ थे। फिर मनुष्यों की आयु भी घटकर केवल सौ वर्ष रह गई थी। ऐसे समय में ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी चढ़ी थी। समय की मंदता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के संग्रह के लिये यात्रा की। उस समय ईश्वरदेव से उनकी भेंट हुई जिनसे उन्होंने अपनी योजना बताई। ईश्वरदेव ने कहा—यह अद्भुत है, मैं इसमें तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकांत स्थान में चले गए। वहाँ उन्होंने निरंतर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगाई। इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रंथ बनाया जो एक

सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरंभ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए संपूर्ण सामग्री उस ग्रंथ में सन्निविष्ट कर दी गई। समाप्त करने के बाद उन्होंने इस ग्रंथ को राजा के पास भेजा जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य भर में इसका प्रचार किया जाय और शिक्षा दी जाय। और यह भी कहा कि जो आदि से अंत तक इसे कंठ करेगा उसे एक सहस्र सुवर्णमुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रंथ को आचार्यों ने स्वीकार किया और अविकल रूप में सबके हित के लिये इसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरण-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा है। इन विषयों का उनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा है और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है (सियुकि, पृष्ठ ११४-११५)।

हम देखेंगे कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विस्तार, व्याकरण के मूल आरंभ, ऐंद्र व्याकरण की उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न व्याकरणों के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था, उस संकट-काल में पाणिनि के नए व्याकरण का प्रादुर्भाव, तथा पाणिनि की योग्यता एवं ग्रंथ-निर्माण-विधि के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने आठ सौ वर्षों का अंतर होने पर भी लगभग उन्हीं बातों का उल्लेख किया है जिनका संकेत पतंजलि के महाभाष्य में पाया जाता है।

(१) **प्राचीन शास्त्रों की उत्पत्ति**—श्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन में कुछ कल्पना का अंश मिला है। भारतीय परंपरा में प्रायः शास्त्रों की उत्पत्ति में दैवी प्रेरणा स्वीकार की गई है। पतंजलि ने भी लिखा है कि बृहस्पति ने दिव्य वर्ष-सहस्र काल तक अपने शिष्य इंद्र के लिये एक-एक शब्द का शुद्ध रूप बताते हुए शब्द-पारायण का व्याख्यान किया (बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, भा० पस्पशाह्निक)।

(२) **साहित्य का विस्तार**—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् का कथन पतंजलि के इस वर्णन से मिलता है—'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यक-मित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः (भाष्य, पस्पशाह्निक)। पृथ्वी के सात द्वीपों और तीन लोकों में शब्द का विस्तार है, चार वेद, उनके छः अंग और उप-निषद्, भिन्न-भिन्न शाखाएँ, १०० यजुर्वेद की शाखाएँ, १००० सामवेद की

शाखाएँ, २१ शाखाओंवाला ऋग्वेद, ६ शाखाओं वाला अथर्ववेद, वाकोवाक्य, (व्याकरण), इतिहास, पुराण, वैद्यक—इतना बड़ा शब्द का प्रयोग-क्षेत्र है। साहित्य-विस्तार का यह चित्र पाणिनि से पहिले ही अस्तित्व में आ चुका था। उस समय संस्कृत साहित्य का जितना अधिक विस्तार हो चुका था उसका परिचय अष्टाध्यायी से भी प्राप्त होता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

(३) ऐंद्र व्याकरण—श्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने व्याकरण संबंधी नियम स्थिर किए थे। यह पाणिनिशास्त्र से पूर्व की बात है। संस्कृत साहित्य में भी ऐंद्र व्याकरण की अनुश्रुति पाई जाती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवताओं ने इंद्र से प्रार्थना की 'वाचं व्याकुरु' (वाक् का व्याकरण करो)। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पतंजलि ने भी बृहस्पति और इंद्र के गुरु-शिष्य रूप में एक-एक पद का उच्चारण करते हुए शब्दों के पारायण की अनुश्रुति का उल्लेख किया है।

सामवेद के ऋक्तंत्र नामक प्रातिशाख्य ग्रंथ में लिखा है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इंद्र को, इंद्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी, और भारद्वाज से वह व्याकरण अन्य ऋषियों को प्राप्त हुआ।[४]

इस परंपरा में प्रजापति रूप में ब्रह्मा सर्व विद्याओं के आदिस्रोत हैं। इंद्र दैवी प्रतीक है। बृहस्पति का व्याकरण मानवरूप में भारद्वाज ऋषि के द्वारा प्रचारित हुआ। पाणिनि ने आचार्य भारद्वाज के मत का उल्लेख किया है (७।२।६३)। पतंजलि ने कई स्थलों पर भारद्वाजीय (भारद्वाज व्याकरण से संबंधित) वार्तिकों का उल्लेख किया है (भा० ३।१।३८; ३।१।८६)।

ऋक्प्रातिशाख्य में भी, जो पाणिनि से पूर्व काल का माना जाता है, भारद्वाज के मत का उल्लेख है, जिसका संबंध ऐंद्र व्याकरण से ही ज्ञात होता है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार ऐंद्र व्याकरण के स्थान में पाणिनि-व्याकरण की जड़ जमी। ऐंद्र व्याकरण की अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ पाणिनि-

---

४—इदमक्षरं छंदसां वर्णशः समनुक्रांतम्। यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिंद्रायेंद्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। न भुक्त्वा, न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिरिति ब्रह्मराशिरिति च।

(ऋक्तंत्र १।४, डा० सूर्यकांत का संस्करण)

व्याकरण में और कात्यायन, पतंजलि आदि के ग्रंथों में अपना ली गई, जैसा कि ऐंद्र व्याकरण के इतिहास में बर्नेल ने सिद्ध किया है।

(४) पाणिनि के पूर्व के अन्य आचार्य—श्यूआन् चुआङ् ने ठीक ही लिखा है कि पाणिनि से पहिले भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले ऋषियों ने व्याकरण बनाए। उपलब्ध प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६५ आचार्यों के नाम आए हैं।[५] इनके द्वारा उस समय व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त—इन शास्त्रों का अत्यधिक विस्तार हुआ। पाणिनि के आविर्भाव पर विचार करते हुए यह पृष्ठभूमि ध्यान में रखनी चाहिए। पाणिनि का व्याकरण इन सब प्रयत्नों के ऊपर सिरमौर हुआ।

५—[संकेत—ऋ० = ऋक् प्रातिशाख्य। य० = यजुः प्रातिशाख्य। तै०=तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। च० = चतुरध्यायिका नामक अथर्व प्रातिशाख्य। नि० = निरुक्त। पा० = पाणिनि।]

आग्निवेश्य (तै०), आग्निवेश्यायन (तै०) आग्रायण (नि०), आत्रेय (तै०), आन्यतरेय (ऋ० च०), आपिशलि (पा०), आह्वरकाः (तै०), उख्य (तै०), उत्तमोत्तरीयाः (तै०), उदीच्याः (पा०), औदुम्बरायण (नि०), औदव्रजि (ऋक्तंत्र साम प्रातिशाख्य), औपमन्यव (नि०), औपशिवि (य०), और्णनाभ (नि०), कांडमायन (तै०), काण्व (य०), कात्थक्य (नि०), काश्यप (य०, पा०), कौण्डिन्य (तै०), कौत्स (नि०), कौहली पुत्र (तै०), क्रौष्टुकि (नि०), गार्ग्य (ऋ०, य०, नि०, पा०), गालव (नि०, पा०), गौतम (तै०), चर्मशिरस् (नि०), चाक्रवर्मण (पा०), जातुकर्ण्य (य०), तैटीकि (नि०), तैत्तिरीयकाः (तै०), दाल्भ्य (य०), नैगि (ऋक्तंत्र), पंचालाः (ऋ०), पौष्करसादि (पा०, तै०), प्राच्याः (ऋ०, पा०), प्लाक्षि (तै०), प्लाक्षायण (तै०), बाभ्रव्य (क्रमकृत्, ऋ०), भारद्वाज (तै०, पा०), मांडूकेय (ऋ०) माशंकीय (तै०), मीमांसकाः (तै०), यास्क (ऋ०), वाडभीकार (तै०), वात्स (तै०), वात्स्य (च०), वार्ष्यायणि (नि०), वाल्मीकि (तै०) वेदमित्र (ऋ०), व्याडि (ऋ०), शतबलाक्ष मौद्गल्य (नि०), शाकटायन (ऋ०, य०, च०, नि०, पा०), शाकपूणि (नि०), शाकलाः (ऋ०), शाकल्य (ऋ०, य०, पा०), शाकल्य पितृ (स्थविर) (ऋ०), शांखायन (तै०), शैत्यायन (तै०), शौनक (ऋ०, य०, पा०), सांकृत्य (तै०), सेनक (पा०), स्थौलष्ठीवि (नि०), स्फोटायन (पा०), हारीत (तै०),

(मैक्समूलर कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४२)

(५) **शब्दविद्या की तत्कालीन व्यवस्था**—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् ने जो लिखा है उसकी पुष्टि भाष्य से होती है। पूर्व समय में ऐसा था कि उपनयन संस्कार के बाद विद्यार्थी पहिले व्याकरण पढ़ते थे और फिर उन्हें वैदिक शब्दों का बोध कराया जाता था। पीछे ऐसा न रहा, झट विद्यार्थी वेद तक जाने लगे और इस प्रकार की धारणा चल गई कि सीधे वेद से वैदिक शब्द और लोक से बोल-चाल (लौकिक) के शब्द आ ही जाते हैं, इसलिये व्याकरण का पचड़ा व्यर्थ है (अनर्थकं व्याकरणम्)। इस प्रकार की डावाँडोल मति के लोगों के लिये आचार्य ने इस व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया (विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे, पस्पशाह्निक)। मनुष्यों का आयुष्य (अवकाश और शक्ति) कम होने के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने पतंजलि के शब्दों का मानो अनुवाद ही किया है—'किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति'। 'आज का क्या कहना, जो बहुत जीता है, सौ वर्ष जीता है।' यह बात कि पाणिनि का उद्देश्य व्याकरण के नियमों को निश्चित करना और अशुद्ध प्रयोगों को हटाना था, कात्यायन से समर्थित होती है। उन्होंने अष्टध्यायी को साध्वनुशासन-शास्त्र (वह शास्त्र जिसमें साधु शब्दों का उपदेश किया गया है, भा० १।१।४४ वा० १४) कहा है।

(६) **आचार्य की शैली**—श्यूआन् चुआङ् के अनुसार पाणिनि ने सामग्री के संचय के लिये विस्तृत यात्रा की और अनेक स्थानों में पूछताछ करके शब्दों का संग्रह किया। भाषा-विषयक यात्रा और पूछताछ की अमिट छाप अष्टाध्यायी में संकलित विस्तृत शब्द-समूह पर स्पष्ट पाई जाती है। बोलियों, जन-विश्वासों और स्थानीय प्रथाओं से भी शब्दों का चुनाव किया गया है। भारत के पूर्वी भाग में उद्दालक-पुष्पभंजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शालभंजिका आदि जो उद्यान-क्रीडाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनके नामकरण की प्रथा पर कई सूत्रों में प्रकाश डाला गया है (नित्यं क्रीडा जीविकयोः २।२।१७; संज्ञायाम्, ३।३।१०६; प्राचां क्रीडायाम्, ६।२।७४)। लोग जिस प्रकार से अपने बच्चों के नाम रखते थे और उन नामों को छोटा करके दुलार से पुकारते थे, उसकी भी पाणिनि ने छानबीन की। यहाँ तक कि कुछ यक्षों के नामों का भी उल्लेख किया है, जिनमें लोगों का विश्वास था और जिनकी कृपा से पुत्र-जन्म की मान्यता होने के कारण बच्चे का नाम उसके नाम के अनुसार रखते थे। इस प्रकार के यक्षों में विशाल भी एक यक्ष था (५।३।८४)। पीलु वृक्ष के पक्के फलों के लिये 'पीलुकुण' शब्द पाणिनि को ठेठ पंजाब की बोलियों से मिला होगा, जहाँ पीलु और शमी के घने जंगल थे और आज भी

पक्के पीलुफलों को 'पिलकना' कहते हैं। इसी प्रकार नापतोल, सिक्के, धान्य, भोजन आदि के संबंध में भी अनेक प्रकार की शब्द-सामग्री इस ग्रंथ में पाई जाती है। साल्व जनपद में जो लप्सी या राबड़ी बनती थी उसके नामकरण का भी सूत्र में उल्लेख है (साल्विका यवागूः, ४।२।१३६)। व्यास के दाहिने और बाएँ किनारों के कुओं के नामों की विशेषताओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रकार की महती सूक्ष्मेक्षिका से सूत्रकार ने शास्त्र का निर्माण किया। विषय के साथ इस प्रकार का साक्षात् संबंध करना या उसे गुनना तक्षशिला विश्वविद्यालय की विशेष शैली थी।

शलातुर में जन्म पाकर पाणिनि भी अपने क्षेत्र के इस प्रसिद्ध शिक्षास्थान में शिक्षा के लिये गए हों और वहाँ के वातावरण में पले हों, यही संभव है। महावग्ग में लिखा है (८।१।६) कि पाटलिपुत्र के राजवैद्य जीवक तक्षशिला में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन करने के लिये गए और अध्ययन समाप्त करके जब उन्होंने आचार्य से लौटने की अनुमति माँगी, तो आचार्य ने उन्हें परखना चाहा और कहा कि तक्षशिला के चारों ओर ढूँढ़कर कोई ऐसी वनस्पति लाओ जो औषधि के काम न आती हो। जीवक ने एक मास तक ढूँढ़ने पर निवेदन किया कि महाराज, मैंने बहुत यत्न किया किंतु ऐसा कोई तृण नहीं मिल सका जो किसी न किसी रोग की औषधि में काम न आता हो। यह उत्तर सुनकर आचार्य ने समझा कि अब शिष्य की पढ़ाई पक्की हुई और उसे जाने की अनुमति दे दी।

जातकों से यह भी पता चला है कि अध्ययन समाप्त कर लेने पर तक्षशिला के छात्र अनेक बातों की जानकारी के लिये देशभ्रमण (चारिका) के लिये निकलते थे और उस यात्रा में अनेक प्रकार के कौशल की बातों (शिल्प) और रीति-रिवाजों (समय) और रहन-सहन के रंग-ढंग (देश-चरित्र) का अध्ययन करते थे।[६] शब्द-विद्या संबंधी छानबीन के विशेष उद्देश्य को लेकर पाणिनि की यात्रा भी इसी प्रकार की रही होगी। यह आश्चर्य है कि पाणिनि के १२०० वर्ष बाद तक उनके विषय की यह जानकारी श्यूआन् चुआङ् को सच्ची अनुश्रुति के रूप में प्राप्त हो सकी।

(७)—**पाणिनि और महेश्वर**—'पाणिनि के पास अपने कार्य की एक सुनिश्चित योजना थी जिसे ईश्वरदेव ने बहुत पसंद किया।' श्यूआन् चुआङ् के इस

६—तक्कसिलं गन्त्वा उग्गहित सिप्पा ततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पञ्च देस चारित्तञ्च जानिस्सामा ति अनुपुब्बेन चारिकं चरंता (जातक, भा० ५ पृ० १४७)।

वर्णन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी के निर्माण में पाणिनि के मौलिक चिंतन और अध्यवसाय को ही श्रेय मिलना चाहिए। 'ईश्वरदेव' की कथा, पाणिनि के कार्य में ईश्वर की सहायता अर्थात् देव-प्रसाद प्राप्त होने की सूचक है।

(८) **पाणिनि कृत यत्न**—'ऋषि पाणिनि उपदेश प्राप्त करके एकांत में चले गए और वहाँ निरंतर यत्न किया और अपने मन और बुद्धि की सारी शक्ति उस कार्य में लगाई।'—श्यूआन् चुआङ् का यह सत्य कथन पतंजलि के शब्दों का प्रायः अनुवाद ही है (प्रमाणभूताचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणिनाय।—भा० १।१।१, वा० ७)। कहाँ एक ओर पाणिनि का सूत्र-रचना में यह महान् यत्न और कहाँ वह गपोड़ा जिसमें पाणिनि को मंदबुद्धि बताया गया! पाणिनि ने अपना उत्साह, विशाल बुद्धि और दृढ़ संकल्प शब्दविद्या का अनुसंधान करने और उसे व्यवस्थित करने में लगाया। पतंजलि के अनुसार वे अनल्पमति आचार्य थे। उन्हें अत्यंत मेधावी होने के कारण कवि भी कहा गया है।

(९) **अष्टाध्यायी का ग्रंथ-परिमाण**—श्यूआन् चुआङ् ने बत्तीस अक्षरों वाले श्लोक की गिनती की नाप से अष्टाध्यायी को एक सहस्र श्लोकों के बराबर लिखा है। अष्टाध्यायी में ३९८१ सूत्र और १४ प्रत्याहार सूत्र हैं, इनकी गणना करने से अष्टाध्यायी आज भी एक सहस्र-श्लोकात्मक है।

(१०) **सर्ववेद पारिषद शास्त्र**—'आरंभ से लेकर अपने समय तक शब्दों और अक्षरों के बारे में जितना कुछ ज्ञात था उस सबको ही बिना कुछ छोड़े हुए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्थान दिया।' यह मूल्यवान् सूचना अष्टाध्यायी का मनन करने से सत्य ज्ञात होती है। पतंजलि ने भी पाणिनि ग्रंथ को 'महत्शास्त्रौघ' बताया है (भा० १।१।१, वा० ७)। प्रातिशाख्य ग्रंथों का संबंध एक-एक वैदिक शाखा से था। अतएव उनमें शब्द संबंधी जो थोड़ी-बहुत सामग्री है वह भी उसी शाखा तक परिमित है। जैसे ऋक्-प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की वैदिक परिषद् में जो ऊहापोह या विचार हुए थे उनका परिचय देता है। वैदिक शाखाओं के अध्ययन के लिये स्थापित आचार्य-कुल 'चरण' कहलाते थे। प्रत्येक चरण में अपनी परिषद् होती थी। उस परिषद् में शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त आदि शब्द-संबंधी विषयों का विचार किया जाता था। अष्टाध्यायी की स्थिति इससे कुछ और विकसित अवस्था को सूचित करती है। इस ग्रंथ का क्षेत्र किसी

विशेष वैदिक परिषद् तक सीमित न था। सभी चरण-परिषदों की जो उपादेय सामग्री थी उसे पाणिनि ने अपने शास्त्र में ग्रहण किया। पतंजलि ने अष्टाध्यायी की इस स्थिति का निरूपण करते हुए बड़े पते की बात कही है—सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् (भा० २। १। ५८), अर्थात् पाणिनि का अष्टाध्यायी शास्त्र सभी वेद-परिषदों से संबंध रखता था। इसीलिये पाणिनि के सूत्रों में साहित्यिक शैली की विभिन्नता भी पाई जाती है। बहुलम् अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम्—ये सब शब्द सूत्रों में नियम का विकल्प बताने के लिये प्रयुक्त किए गए हैं। शब्दों की इस अनेकरूपता को उलझन कहकर पाणिनि की शैली पर एक आपत्ति उठाई गई तो पतंजलि ने समाधान किया कि अष्टाध्यायी का संबंध सब परिषदों से था, इसलिये यहाँ एक-सा रास्ता नियत करना संभव नहीं (तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्, २। १। ५८)। बर्नेल के मत से अष्टाध्यायी अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणों से अतिशायिनी थी। तभी उसे इतना प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३८)। पाणिनि ने पूर्वाचार्यों से कितनी सामग्री ग्रहण की, यह प्रश्न अत्यंत रोचक होता, किंतु इसके समाधान का साधन अब उपलब्ध नहीं, क्योंकि पाणिनि से पूर्व-कालीन आपिशलि, भारद्वाज, गार्ग्य, शाकटायन आदि के व्याकरण-ग्रंथों में से एक भी सुरक्षित नहीं रहा। ऋक्तंत्र नामक साम-प्रातिशाख्य में सुट् और दीर्घ प्रकरण के अंतर्गत २७ सूत्र (१६५ से २१८ तक) पाणिनि के सूत्रों से बहुत ही मिलते हैं। उनसे यह आभास मिलता है कि अन्य व्याकरणों में सूत्रों का रूप किस प्रकार अष्टाध्यायी से कुछ कुछ भिन्न रहा होगा—

ऋक् तंत्र		पाणिनि	
१. मस्करो वेणुः	(४। ७। २६)।	मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।	
२. प्रस्कण्व ऋषिः	(४। ६। ८)।	प्रस्कण्व हरिश्चन्द्रावृषि	(६। १। १५३)।
३. गोष्पदमुदक माने	(४। ६। ६)।	गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु	(६। १। १४५)।
अगोष्पदमनाचरिते	(४। ६। १०)।		
४. अपस्परं सातत्ये	(४। ६। ७)।	अपरस्पराः क्रिया सातत्ये	(६। १। १४४)।
५. अप रथे	(४। ६। १)।	अपस्करो रथांगम्	(६। १। १४६)।
६. पार पर्वते	(४। ५। १०)।	पारस्कर प्रभृतीनि च	(६। १। १४७)।
७. आस्पदं आस्थायाम्	(४। ६। ५)।	आस्पदं प्रतिष्ठायाम् संज्ञायाम्	(६। १। १४६)।
८. कुस्तुंबुरु जातिः	(४। ६। ५)।	कुस्तुम्बुरूणि जातिः	(६। १। १४३)।
९. आश्चर्यमनित्ये	(४। ७। १)।	आश्चर्यमनित्ये	(६। १। १४७)।

१०. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (४ । ७ । ४)। कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६ । १ । १६५)।
११. नदी रथस्या (४ । ७ । ५)। रथस्याः नदीं एवं तद्बृहतोः करपत्योश्चोर-
१२. तस्करः स्तेनः (४ । ७ । ७)। देवतयोः सुट् तलोपश्च, ये दो गणसूत्र पारस्कर प्रभृतीनि के अंतर्गत पढ़े गए हैं (६।१।१५७)।
१३. किरतावध्यात्मम् (४ । ६ । २)। अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६ । १ । १४२)।

इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की अधिकांश सामग्री पाणिनि के महान् शास्त्र-समुद्र में भर गई थी। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों को अर्थ, भाषा, और विस्तार तीनों दृष्टियों से माँजा एवं पल्लवित किया।

ऋक्तंत्र का 'किरतावध्यात्मम्' (४ । ६ । २) सूत्र इस विषय का नौसिखिया या आरंभिक प्रयत्न जान पड़ता है। 'अध्यात्मम्' पद सजीव वस्तु के लिये आया है और अर्थ की दृष्टि से उलझा हुआ है। सूत्र का तात्पर्य यह था कि कोई सजीव प्राणी जब अपने पंजों से खुरचे तब 'अपस्किरते' (अप + स् + कृ धातु) रूप सिद्ध होता है। ऋक्-तंत्र के सूत्र से प्रयोग तो बन जाता है, परंतु अर्थ को साफ-साफ कहने की दृष्टि से सूत्र असमर्थ है। वस्तुतः बात इतनी थी कि जब कोई पशु या तो मस्ती में आकर, या चुग्गा ढूँढने के लिये, या रहने अथवा बैठने के स्थान के लिये धरती को खरोंचता है तब 'अपस्किरते' रूप बनता है, जैसे 'अपस्किरते' वृषभो हृष्टः' (बैल मस्ती में खरोंच रहा है)। इसके लिये पाणिनि ने अपना सूत्र अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से निश्चित और स्पष्ट कर दिया है। खुरचने के लिये 'आलेखन' पद 'अपस्किरते' का अर्थ बताता है। 'चतुष्पाद्' और 'शकुनि' पदों से यह निश्चित होता है कि अपस्किरते का प्रयोग केवल पशु-पक्षियों के लिये होता था। ये दोनों बातें 'किरतावध्यात्मम्' में अनुक्त और अस्फुट हैं।

पाणिनि ने किस शैली से और किन नियमों के अनुसार अपने शास्त्र में पूर्व सामग्री का संकलन किया है और क्या अब भी उसकी पहिचान की जा सकती है, यह प्रश्न श्री आई० एस० पवते महोदय ने 'अष्टाध्यायी की रचना' (स्ट्रक्चर आव् दि अष्टाध्यायी) नामक ग्रंथ में उठाकर उसका समाधान भी दिखाया है। किंतु रोचक होते हुए भी यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय है। ह्विटनी ने लिखा था कि क्या और कितना पाणिनि का अपना है और कितना पूर्वाचार्यों का, इसके स्पष्टीकरण में, यदि वह कभी संभव हो सका, तो बहुत समय की अपेक्षा होगी।

(११) पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा—'पाणिनि ने अपना ग्रंथ समाप्त करने के बाद उसे सम्राट् के पास भेजा जिसने उसको बहुत सम्मान दिया।' श्यूआन् चुआङ् की यह उक्ति मंजुश्री-मूलकल्प, राजशेखर, सोमदेव और तारानाथ के द्वारा दी हुई अनुश्रुति के अनुकूल है। पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के लिये पाणिनि संभवतः स्वयं अपना नया व्याकरण लेकर उपस्थित हुए और यहीं नंदराज से उनकी मित्रता हुई होगी। नंद और मौर्य-युग का पाटलिपुत्र देश का विद्याकेंद्र भी था। सिंहली महावंश की 'अत्थपकासनी' टीका में चाणक्य का आरंभिक जीवन बताते हुए लिखा है कि वे भी शास्त्र-परीक्षा के ही उद्देश्य से पाटलिपुत्र गए (वादं परियेसन्तो पुप्फपुरं गन्त्वा)।†

पाटलिपुत्र की यह संस्था मौर्यकाल में भी जीवित थी, ऐसा यवन राजदूत मेगस्थने एवं अन्य यवन इतिहास-लेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है। 'संवत्सर के आरंभ में सम्राट् एक महती विद्वत्सभा करके सब विद्वानों और दार्शनिकों को बुलाते हैं। जिस विद्वान् ने किसी नए विषय पर शास्त्र-रचना की हो या कृषि और पशुओं के सुधार के लिये कोई नया उपाय ढूँढ़ निकाला हो, या जनता के हित की वृद्धि के लिये कोई नई खोज की हो, वह विद्वान् अपनी उस कृति या खोज को सबके सामने रखता है। देश के सम्राट् इस सभा के संरक्षक बनते हैं' (स्त्राबो १५।१; मैक्क्रिंडिल 'मेगस्थने', उद्धरण ३३; दियोदोर का उल्लेख)।

इस सभा का कार्य लगभग वही ज्ञात होता है, जिसे राजशेखर ने पाटलिपुत्र की शास्त्रकार-परीक्षा कहा है। देश की इसी सुप्रसिद्ध सभा में पाणिनि और चाणक्य उपस्थित हुए थे। पाटलिपुत्र की इस राजसभा से ही संबंधित दो उदाहरण पतंजलि के भाष्य में सुरक्षित रह गए हैं। पाणिनि ने भी 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) इस सूत्र में 'राजसभा' का उल्लेख किया है और इसी का उदाहरण देने के लिये पतंजलि ने मौर्यकालीन 'चंद्रगुप्त-सभा' एवं शुंगकालीन 'पुष्यमित्र-सभा' का उल्लेख किया है (भा० १।१।६८ वा० ७)। यह मानना युक्तिसंगत होगा कि चंद्रगुप्त से पहिले इसी प्रकार की राजसभा नंदराज के समय में भी पाटलिपुत्र में थी। इन सभाओं का विशेष कार्य विद्या का समारोह और विद्वानों का एकत्र संमिलन और सम्मान करना था। नंदों से भी पूर्व मिथिला में जनक के यहाँ इस प्रकार की सभा थी, जिसमें कुरु-पंचाल के विद्वान् एक समय आमंत्रित किए गए थे।

† इस सूचना के लिये मैं अपने अध्यापक श्री चरणदासजी चैटर्जी का ऋणी हूँ।—ले०।

इसी प्राचीन परंपरा में यह उपयोगी संस्था कार्य करती रही, जिसका प्रभाव यूनानी राजदूत और यात्रियों के मन पर भी पड़ा। राजसभाओं की यह परंपरा बाद तक जारी रही, जैसा कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और राजा भोज की अत्यंत प्रसिद्ध सभाओं के वर्णन और कार्यों से ज्ञात होता है।

विद्वानों का सम्मान

यह स्वाभाविक है कि जो विद्वान् अपनी विद्या और खोज के कारण इन सभाओं में यशस्वी होते थे वे सार्वजनिक रीति से सम्मानित किए जाते थे। दियोदोर ने लिखा है कि विद्वान् अपनी सेवाओं के लिये बहुमूल्य पुरस्कार और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। मेगस्थने का उल्लेख और भी निश्चित है—'जो इन सभाओं में किसी ठोस सत्य का प्रतिपादन करता है उसे पुरस्कृत करने के लिये सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया जाता है।'

इसी संबंध में पतंजलि के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। १।१।७३ सूत्र के भाष्य में उदाहरण आया है—'सभा सन्नयने भवः साभासन्नयनः'। पाणिनि के अनुसार सन्नयन का अर्थ है सम्मानन या सम्मान करना (सम्मानोत्संजनाचार्य करणज्ञानभृति विगणनव्ययेषु नियः, १।३।३६)। सभा में शास्त्र के सफल प्रतिपादन को 'सन्नयन' कहा जाता था और वही उस शास्त्र एवं शास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् का सम्मानन भी था। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि 'साभासन्नयन' शब्द पाणिनिकालीन था, जो राजसभा में प्राप्त सफलता से उत्पन्न सम्मानित पुरस्कार के लिये प्रयुक्त होता था।

इस सम्मान के आर्थिक स्वरूप का कुछ उल्लेख श्यूआन्-चुआङ् ने किया है। अष्टाध्यायी शास्त्र में सांगोपांग व्युत्पन्न होनेवाले विद्वानों को एक सहस्र सुवर्णमुद्रा दिए जाने की आज्ञा राजा की ओर से हुई थी। पाणिनि ने इस प्रकार के आचार-नियत द्रव्य के लिये 'धर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है और जो इस प्रकार के आचार-नियत (धर्म्य) देय को स्वीकार करते थे वे 'हारी' (सम्मान या पुरस्कार द्रव्य ले जानेवाले) कहलाते थे (सप्तमी हारिणौ धर्म्येऽहरणे, ६।२।६५)[७]। इस सूत्र के मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरणों में भाष्यकार ने एक स्थान पर

७—हारीति देयं यः स्वीकरोति सोऽभिधीयते। धर्म्यमित्याचारनियतं देयमुच्यते। धर्मो ह्यनुवृत्त आचारः, तस्मादनपेतं, तेन वा प्राप्यमिति (काशिका)।

'वैयाकरण हस्ती' शब्द का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वैयाकरणों को इस प्रकार के रिवाज या आचार से नियत देय द्रव्य के रूप में हाथी मिलता था। भाषा में साभासन्नयन शब्द की चरितार्थता 'वयाकरण-हस्ती' जैसे प्रयोगों के लिये थी। व्याकरण के पांडित्य के लिये हाथी के पुरस्कार की कल्पना प्राच्य में ही संभव थी, जहाँ कौटिल्य के अनुसार सबसे अच्छे हाथी पाए जाते थे। कौटिल्य ने स्वयं भी विद्यावंतों के लिये एक सहस्र कार्षापण पूजा-वेतन का उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र ५।३)।

ऊपर लिखे विवेचन से स्पष्ट है कि पाणिनि के जीवनचरित्र के विषय में उपलब्ध परंपरा बहुत कुछ सत्य पर आश्रित थी और यद्यपि यह सामग्री अति संक्षिप्त है, फिर भी उससे आचार्य के जीवन की मोटी रूपरेखा का परिज्ञान मिल जाता है।

कवि पाणिनि

भाष्य की एक कारिका में सूत्रकार के लिये 'कवि' विशेषण आया है (तद्कीर्तितमाचरितं कविना, १।४।५०)। कैयट और नागेश ने कवि का अर्थ मेधावी किया है और वही ठीक जान पड़ता है। पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' नामक काव्य का रचयिता मानना प्रमाणित नहीं है, क्योंकि न तो उस नाम का कोई काव्य ही उपलब्ध है और न पाणिनि के नाम से सूक्ति-संग्रहों में उद्धृत श्लोक ही उनके जान पड़ते हैं। एक संग्रह में जो श्लोक पाणिनि के नाम से उद्धृत हैं, अन्यत्र वे दूसरे के नाम से मिलते हैं। श्लोकों की शैली बहुत बाद की है। यह देखकर श्री भंडारकर ने पाणिनि के कवि होने की बात का खंडन किया। श्री क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय ने इस प्रश्न के विस्तार में जाकर अंत में यही मान्य निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि के कवि होने की बात कल्पनामात्र है। जांबवती-विजय या पाताल-विजय काव्य आठवीं-नवीं शती के किसी कवि की रचना रही होगी।

शास्त्र का नाम

अष्टाध्यायी के तीन नाम महाभाष्य में मिलते हैं—

(१) अष्टक (अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सत्रस्य,५।१।५८), (२) पाणिनीय (पाणिनिना प्रोक्तम्, ४।३।१०१), (३) वृत्तिसूत्र (न ब्रूमो वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति। किं तर्हि? वार्तिकवचनप्रामाण्यादिति, भा० २।१।१, वा०२३)। कई सत्रों के

उदाहरणों में काशिका में पाणिनि-व्याकरण को 'अकालक व्याकरण' कहा गया है—पाणिन्युपज्ञं अकालकं व्याकरणम् (२।४।२१: ४। ३ ११५, ६।२।१४)।

इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि ने जिस नए व्याकरण की रचना की उसमें काल-संबंधी विवेचन को जान-बूझकर स्थान नहीं दिया गया। पतंजलि ने इस बात का कुछ संकेत दिया है कि किस प्रकार काल-संबंधी परिभाषाओं के विषय में वैयाकरणों में मतभेद था। परोक्ष भूत क्या है ? कोई कहते हैं सौ वर्ष पहिले का काल परोक्ष है; दूसरे कहते हैं कि जो परदे की ओट में या आँख से ओझल है वह परोक्ष है; कोई कहते हैं, दो दिन या तीन दिन पहिले जो हुआ हो वह परोक्ष है।[८] इसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान के ठीक ठीक काल-विभागों के बारे में भी वैयाकरणों का अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग था। महाभाष्य में बड़े रोचक ढंग से दो मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक आचार्य कहते थे 'नास्ति वर्तमानः कालः'; दूसरे कहते थे 'अस्ति वर्तमानः कालः' (भा०, वर्तमाने लट्, ३।२।१२३, वा० ५)।

अन्य वैयाकरण काल-संबंधी परिभाषाएँ स्थिर करने में रुचि रखते थे। अद्यतन काल या आज का समय कितना है, इस विषय में एक का मत था कि ठीक समय पर उठने से लेकर ठीक समय पर सोने तक 'आज' समझा जाय। दूसरे कहते थे—अर्धरात्रि से अर्धरात्रि तक अद्यतन काल होता है। पाणिनि ने मध्यम पथ का अनुयायी होने के कारण दूर की कौड़ी लानेवाले इस प्रकार के मतवादों को व्याकरण का बोझ समझकर छोड़ दिया और इस विषय में अपने स्पष्ट मत का उल्लेख भी किया—

कालोपसर्जने च तुल्यम्। (१।२।५७)

अर्थात् काल, उपसर्जन (मुख्य और गौण का भेद) और इसी तरह की अन्य बातों की व्याकरण में शिक्षा देना व्यर्थ है। क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का स्रोत लोक है, लोगों के व्यवहार से उन्हें जानना चाहिए। सूत्रोपदिष्ट इस अभिमत के कारण पाणिनि-व्याकरण के लिये 'अकालक' विशेषण प्रयुक्त हुआ।

८—कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम। के चित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति, अपर आहु कटान्तरितं परोक्षमिति, अपर आहुर्द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति (भा० ३।२।११५)

मूलपाठ

गुरु-शिष्य परंपरा से अष्टाध्यायी के मूल पाठ को लोगों ने कंठस्थ रखा है। जैसा श्यूआन् चुआङ् ने भी लिखा है—'मूल को कंठस्थ करने की वह परंपरा पाणिनि के समय से आरंभ होकर बराबर चली आती रही।' आज भी वेदपाठी श्रोत्रिय लोग छः वेदांगों में अष्टाध्यायी कंठस्थ करते हैं। स्वर-सिद्धांत-चंद्रिका के अनुसार अष्टाध्यायी की सूत्र-संख्या ३९९५ है, जिसमें १४ प्रत्याहार सूत्र हैं।[९]

काशिका वृत्ति में लगभग बीस सूत्र अधिक हो गए हैं—कहीं तो योग-विभाग के द्वारा पाणिनि के एक सूत्र के दो टुकड़े करके और कहीं कुछ वार्तिकों को सूत्र मान लेने से। कई सूत्रों में वार्तिक के पद लेकर थोड़ा परिवर्तन पीछे हुआ है, किंतु ऐसे सब स्थल भाष्य और अन्य टीकाओं की सहायता से सहज ही पहिचाने जा सकते हैं।[१०]

पतंजलि से पहिले ही सूत्रों के पाठ पर ध्यान दिया जाने लगा था, जैसा कि उनके 'इह केचिद् आक्वेरिति सूत्रं पठन्ति, केचित्प्राक्क्वेरिति' (भा० ३ । २ । १३४), इस वाक्य से ज्ञात होता है। सूत्रों में पाठभेद के अन्य उदाहरण भी पाए जाते हैं।[११]

अष्टाध्यायी के मूलपाठ की तीन विशेषताएँ भी कही जाती हैं—

(१) उन स्वरों का अनुनासिक पाठ, जिनकी इत् संज्ञा करके लोप करना इष्ट था (उपदेशेऽजनुनासिक इत्, १ । ३ । २)।

९—चतुःसहस्री सूत्राणां पंचसूत्रविवर्जिता ।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥ (स्व० सि० च०, श्लोक १५)

१०—अष्टाध्यायी के मूल पाठ की समस्या पर महाभाष्य के अपूर्व विद्वान् और संपादक श्री कीलहार्न ने अपने लेखों में पूरी छानबीन की है (इंडियन ऐंटीक्वेरी भाग १६, पृष्ठ १८४)।

११—काशिका ३।३।७८ (अंतर्घन अंतर्घण); ६।१।११७ (यजुष्युरः और यजुष्युरो); ६।१।१५६ (केचिदिमं सूत्रं नाधीयते, पारस्कर प्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति); ६।२।१३४ (चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्)। पदमंजरी, ४।३।११९ और ४।४।८८। सिद्धान्त कौमुदी, ५।२।६४, ५।२।९८।

(२) सूत्रों के जिन शब्दों का अधिकार बाद वाले सूत्रों में ले जाना इष्ट था, उनपर स्वरित चिह्न।

(३) संहितापाठ, अर्थात् पहिले सूत्र के अंतिम अक्षर और उसके बाद के अक्षर को मिलाकर संधि करके सूत्रों का पाठ (वृद्धिरादैजदेङ्गुण इको गुणवृद्धिः)।

कुछ ऐसा मानते हैं कि अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति अष्टाध्यायी का पाठ सस्वर था। इसे त्रैस्वर्य पाठ कहा जाता है। किंतु इस समय उपलब्ध सूत्र-पाठ में ऊपर लिखी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। इत् संज्ञा को बतानेवाले अनुनासिक और अधिकार को बतानेवाले स्वरित संकेत इतने अनिवार्य हैं कि उनके विषय में आरंभ से ही स्पष्टीकरण कर लिया गया था, और वही बँधी हुई परंपरा आज तक चली आती है। इसे पाणिनि-शास्त्र के पढ़ाते समय यों कहा जाता है—प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः, प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः।

वस्तुस्थिति यह ज्ञात होती है कि सूत्रों का पाठ जैसा अब है वैसा ही था। पाणिनि ने उपदेश के समय अर्थात् शिष्यों को सूत्रों का शिक्षण करते हुए यह बताया था कि इत् संज्ञावाला अनुनासिक स्वर कौन सा है और अधिकारवाला स्वरित कहाँ तक है। यही उपदेश गुरु-शिष्य-परंपरा से आज तक चला आ रहा है और एक बार उसका परिचय हो जाने पर अधिकार और इत् संज्ञा का पहिचानना प्रायः सरल हो जाता है। सूत्रों में अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति उदात्त और अनुदात्त स्वरों के रहने का प्रमाण भी नहीं मिलता। कैयट का मत है कि आरंभ से ही मूल सूत्र-पाठ में एकश्रुति थी, अर्थात् स्वर नहीं लगे थे। संहिता-पाठ अर्थात् एक पाद में आए हुए सब सूत्रों को एक साथ मिलाकर पारायण करने की बात संभव जान पड़ती है। पतंजलि से पूर्व यह स्थिति अवश्य थी, ऐसा 'प्राग् रीश्वरान्निपाताः' (१ । ४ । ५६) सूत्र के श्लोक-वार्तिक[१२] के भाष्य से ज्ञात होता है। आज भी छहों वेदांगों में अष्टाध्यायी का पारायण करनेवाले वैदिक लोग संहितापाठ मानकर ही प्रत्येक पाद के सूत्रों का पारायण करते हैं।

१२—रीश्वराद् वीश्वरान्माभूत्, अर्थात् पाणिनि ने १।४।५६ सूत्र में रीश्वर इसलिये पढ़ा कि अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्र तक ही निपात का अधिकार चले, उससे आगे ३।४।१२ और ३।४।१३ सूत्रों के 'वीश्वर' शब्द तक नहीं। इन दो सूत्रों के संहितापाठ में ही 'वीश्वर' पद बन सकता है (णमुल् कमुलौ + ईश्वरे तो सुन् कसुनौ)।

गणपाठ

गणपाठ अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है। गणपाठ की सामग्री पाणिनि की मौलिक देन है। बर्नेल के अनुसार ऐंद्र व्याकरण में गणों की शैली न थी। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि ने अपनी सामग्री को सुव्यवस्थित करते हुए पहले गणपाठ और पीछे सूत्र बनाए—

एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति सः पूर्वः पाठः, अयं पुनः पाठः।

(भा० १।१।३४)

श्यूआन् चुआङ् ने भी यही कहा है कि आचार्य ने पहिले अनेक शब्दों का संग्रह किया और उन्हें ग्रंथ रूप में सजाया।

गणपाठ का उद्देश्य है कि अनेक शब्दों को जो परस्पर भिन्न होते हुए भी किसी एक बात में मिलते हैं, व्याकरण के एक नियम के अंतर्गत लाया जाय। इस शैली के द्वारा शब्दों की बिखरी हुई सामग्री एक सरल व्यवस्था और नियम में बँध जाती है। एक एक शब्द को अलग अलग मानकर उसके लिये नियम बनाने की प्रतिपदोक्त शैली बहुत लंबी और दुरूह हो जाती है। अतएव गणपाठ बहुसंख्यक शब्दों को व्याकरण के संक्षिप्त नियमों के अंतर्गत लाकर परिचय कराने का रोचक एवं मौलिक ढंग है। यदि पाणिनि ने गणपाठ की युक्ति न अपनाई होती तो ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से संबंधित भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सामग्री का जैसा उपयोग अष्टाध्यायी में उसके संक्षिप्त रूप की रक्षा करते हुए भी हो सका है, कदापि न हो पाता। व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की शैली पाणिनि के हाथों में सांस्कृतिक सामग्री का भंडार बन गई। कुछ गण तो ऐसे थे जिनका पाणिनि के द्वारा ही पूरा पाठ एक बार दे दिया गया था। गोत्र और स्थान-नामों की गणसूचियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरे गण आकृतिगण कहलाते हैं जिनमें जानबूझकर भाषा में उत्पन्न होनेवाले नए नए शब्दों की भरती के लिये द्वार खुला रखा गया। जैसे अर्धर्चादि (२।३।३१), गौरादि (४।१।४१), तारकादि (५।२।३६)। कृतादिगण पर लिखते हुए पंतजलि ने भी पठितगण और आकृतिगण, इन दो भेदों को स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति यह थी कि एक ही नियम के माननेवाले जो शब्द इस समय ज्ञात हैं वे तो गण में पढ़ दिए गए हैं, किंतु इसके बाद भी इनसे मिलते-जुलते जो शब्द मिलें वे भी गण-निर्दिष्ट कार्य के भागी हों।

इस विशेषता के कारण नए शब्द पाणिनिशास्त्र के अनुशासन में आते रहे और अष्टाध्यायी एक जीता-जागता शास्त्र बना रहा।

गणपाठ के संशोधित संस्करण की अत्यंत आवश्यकता है। काशिका वृत्ति में प्रत्येक गण के शब्दों की सूची मिलती है। उससे पूर्वकालीन चंद्र-व्याकरण की वृत्ति में भी लगभग इन्हीं गणों का पाठ और शब्दसूची है। तुलनात्मक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि काशिकाकार के सामने गणों की एक पूर्व से प्राप्त परंपरा थी। पंतजलि ने महाभाष्य में गणपाठ के संशोधन का अच्छा प्रयत्न किया था और उनसे भी पूर्व के कात्यायन के वार्तिकों में इस विषय का विवाद पाया जाता है कि शब्द-विशेष को पाणिनि के द्वारा गणपाठ में पढ़ा हुआ माना जाय या नहीं। उदाहरण के लिये शिवादि गण में 'तक्षन्' शब्द का पाठ है या नहीं, इस संबंध में कात्यायन के तीन वार्तिकों में विचार किया गया है (भा० ४।१।१५३)। पंतजलि ने खंडिकादि गण में 'उलूक' और 'क्षुद्रक-मालव' शब्दों के पाठ पर यह विचार किया है। इसी प्रकार 'नृनमन' शब्द का क्षुभ्नादि गण में (८।४।३६), 'शाकल्य' का लोहितादि में (४।१।१८), 'गर्ग भार्गविका' का गोपवनादि में (२।४।६७), और 'अथर्वन्' एवं 'आथर्वण' शब्दों का वसन्तादि गण में (भा० ४।३।१३१)। भाष्यकार ने इस विषय की कितनी गहरी छानबीन की थी, यह बात उनके यह लिखने से ज्ञात होती है कि 'अथर्वन्', 'आथर्वण' शब्दों का अष्टाध्यायी में चार बार पाठ किया गया है—

इदमाथर्वणार्थमाथर्वणिकार्थं च चतुर्ग्रहणं क्रियते।
(भा० ४।३।३१)

इससे विदित होता है कि पाणिनि-परंपरा में गणों का महत्त्व सूत्रों के तुल्य ही है। टीकाकारों की धारणा यही रही है कि गणपाठ का मूल भी प्रामाणिक है। डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का मत था कि गणपाठ के अधिकांश शब्द पाणिनि के समय के ही हैं, जिनमें बहुतों की चर्चा पतंजलि ने की है (इंडियन एंटीक्वेरी, १।२१)।[१३]

१३—उदाहरण के लिये काशिकाकार ने यस्कादिगण (२।४।६३) पर विचार करते हुए दिखाया है कि इस गण के छत्तीस शब्दों में से सोलह पाणिनि के दूसरे गणों में पढ़े गए हैं, जैसे यस्क, लभ्य, दुह्य, अयःस्थूण और तृणकर्ण ये पाँच शिवादिगण (४।१।११२) में; पुस्करसत् बाह्वादिगण (४।१।९६)में; खरप, नडादिगण (४।१।९९)में; भलंदन पुनः शिवा-

पाणिनि ने जो लंबी गोत्र-सूचियाँ दी हैं, इतिहास की दृष्टि से उनका महत्त्व है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवरकांड की गोत्रसूची से अधिकांश पाणिनीय गोत्र-नामों का समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त जैमिनीय ब्राह्मणों में आए हुए नामों एवं शतपथ की वंश-सूचियों में बहुत से पाणिनीय गोत्र-नाम मिल जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने इन सूचियों का संकलन वास्तविक अनुश्रुति और जीवन के आधार पर किया था।

भौगोलिक नाम तो सर्वथा पाणिनि की ही देन है। अकेले 'वुञ्छण्कठजिल' आदि (४।२।८०) सूत्र में पढ़े हुए १७ गण लगभग तीन सौ स्थान-नामों का परिचय देते हैं। पाणिनि द्वारा संकलित सामग्री का इस सूत्र में अत्यंत मौलिक, अद्भुत और समृद्ध उदाहरण पाया जाता है। पाणिनीय भौगोलिक नामों का समर्थन किसी अंश में महाभारत एवं यूनानी इतिहास-लेखकों में आई हुई भौगोलिक सामग्री से होता है। दामन्यादि (५।३।११६) गण में पठित सावित्री-पुत्रकों का नाम केवल महाभारत के कर्ण-पर्व (५।४६) में मिलता है।

कौड्यादि गण (४।१।८०) से संबंधित एक वार्तिक में रौढ्यादि गण का उल्लेख किया गया है। पतंजलि के अनुसार कौड्यादि रौढ्यादि एक ही गण के नाम हैं (के पुनः रौढ्यादयः, ये क्रौड्यादयः, भा० ४।१।७६)। ज्ञात होता है कि किसी दूसरे व्याकरण में कौड्यादि को रौढ्यादि के रूप में पढ़ा गया था। महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने लिखा है कि सर्वादि गण के शब्दों का क्रम आपिशलि के व्याकरण में इससे भिन्न था। गणपाठ का सब प्रकार से विशेष महत्त्व होते हुए भी उसके शब्दों की प्रामाणिकता सूत्रगत शब्दों और नामों की अपेक्षा दूसरी कोटि में मानी जायगी।

दगण (४।१।११२)में; भडिल, भंडिल, भडित, अश्वादिगण (५।१।११०)में। कहीं कहीं सूत्रों में अंतः-साक्षी भी शब्दविशेष के गण में पढ़े जाने का समर्थन करती है। जैसे 'प्रवाहणस्य ढे' (७।३।२८) सूत्र बताता है कि प्रवाहण शब्द शुभ्रादिगण (४।१।१२३) में अवश्य पढ़ा गया था। सर्वादिगण के शब्दों की पुष्टि पाणिनि के चार सूत्रों से होती है, यथा पूर्वादि (७।१।१६), द्वयादि (५।३।२), डतरादि (७।१।२५), और त्यदादि (७।१।१०२)। लोहितादि कतंत गण (४।१।१८) के बीस शब्द गर्गादि गण (४।१।१०५)में पढ़े हैं और वहीं से जाने जाते हैं। बिदादिगण (४।१।१०४) में भी गोपवनादि (२।४।६७) और हरितादि (४।१।१०।-१००) गणों के शब्दों का अंतर्भाव है। गर्गादि और बिदादि दोनों ही गणों का पाठ शुद्ध है।

काशिका में पाणिनि-परंपरा की रक्षा

पाणिनि-सूत्रों पर इस समय काशिका ही एकमात्र प्राचीन वृत्ति उपलब्ध है। काशिका पर जिनेंद्रबुद्धि कृत न्यास और हरदत्त कृत पदमंजरी बाद की टीकाएँ हैं, जिनमें सूत्रों के अर्थ को पल्लवित किया गया है। हरदत्त के अनुसार काशी में निर्मित (काशिषु भवा) होने के कारण इसका नाम काशिका पड़ा। काशिका अत्यंत प्रामाणिक वृत्ति है, इसमें परंपरा से प्राप्त पाणिनि-सामग्री की खूब रक्षा की गई है।

काशिकाकार ने आरंभ में ही लिखा है कि वृत्ति, भाष्य, धातुपाठ और नामपारायण (नामिक) आदि में जो व्याकरण की सामग्री फैली हुई थी उसके सार का संग्रह काशिका में किया गया है। काशिकाकार ने न केवल सूत्रों के गूढ़ अर्थों पर प्रकाश डाला, अपितु गण-पाठ को भी शुद्ध किया और प्राचीन श्लोकात्मक इष्टियों का भी संग्रह किया।[१४] काशिका के बिना पाणिनि-सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों का जानना असंभव हो जाता। पाणिनिशास्त्र की परंपरा में काशिका अत्यंत भरा-पूरा भंडार है, जिसमें पुष्कल प्राचीन सामग्री सुरक्षित रह गई है। सच तो यह है कि काशिका पाणिनि के दुग्धामृत की प्राप्ति के हेतु कामधेनु है। काशिका में पाणिनि के विराट् भवन की महिमा अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। सूत्रकार ने जिस प्रकार अपने शास्त्र का ठाठ बाँधा था, जिन प्रकरणों में बाँटकर प्रत्यय और प्रकृति संबंधी विविध कार्यों को सजाया था, उनके प्रासाद का वह सूत्र-मापन काशिका की कृपा से ज्यों का त्यों हमारे पास तक पहुँचा है। पाणिनिशास्त्र का अपना स्वरूप कितना आकर्षक और सुबोध था, यह काशिका वृत्ति से जाना जाता है।

काशिका से पूर्व भी सूत्रों पर अनेक वृत्तियाँ बनी होंगी। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर रचित अपनी त्रिपादी टीका में वृत्तिकार कुणि का उल्लेख किया है, एवं कैयट ने कहा है कि पतंजलि ने कुणि के ग्रंथ को प्रमाण माना था (भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्)। इससे ज्ञात होता है कि वृत्तिकार कुणि पतंजलि से भी पहले हुए थे। पतंजलि ने भाष्य में 'माथुरी वृत्ति' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति से ज्ञात होता है कि माथुरीवृत्ति अष्टा-

---

१४—इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढ़ सूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूप सिद्धि वृंत्तिरियं काशिका नाम ॥

ध्यायी की टीका थी। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रों पर कुणिवृत्ति, माथुरीवृत्ति, महाभाष्य, भर्तृहरिकृत त्रिपादी, भागवृत्ति, काशिका, न्यास और पदमंजरी इन टीकाओं की परंपरा रही है। जो सामग्री उपलब्ध है उसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि के सूत्र, अर्थ, उदाहरण, और प्रत्युदाहरणों की सामग्री किस प्रकार एक टीका से दूसरी टीका में सुरक्षित होती रही। महाभाष्य में जो उदाहरण-संबंधी सामग्री है वह अधिकांश काशिका में सुरक्षित है। क्रतूक्थादि सूत्रांताट्ठक् (४।२।६०) सूत्र पर भाष्य में दिए हुए अनेक प्राचीन ग्रंथों के नाम काशिका में और पल्लवित होकर आए हैं। आवश्यकतानुसार काशिकाकार ने नए उदाहरणों का भी स्वागत किया; जैसे प्राच्य भरत (२।४।६६) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने अपने से पूर्वकालीन औद्दालकि और औद्दालकायन नाम दिए हैं, किंतु काशिकाकार ने उसके स्थान पर अपने समकालीन आर्जुनि और आर्जुनायन उदाहरण रखे। आर्जुनायन का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में आया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि काशिका के कुछ उदाहरणों में पतंजलि, कात्यायन और संभवतः पाणिनि से भी पूर्वकालीन सामग्री का आभास मिलता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण 'हीने' (१।४।८६) सूत्र पर 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' और 'उपोऽधिके च' सूत्र पर 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' हैं। पाणिनि से भी पहिले जब शाकटायन-व्याकरण का बोलबाला था, उस समय और सब वैयाकरण शाकटायन से घटे हुए माने जाते थे। उसी स्थिति का इस उदाहरण में संकेत है। ये उदाहरण शाकटायन-व्याकरण से छटककर पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवालों में घुलमिल गए। पीछे कुछ चेत होनेपर पाणिनीयों ने 'अनुपाणिनि वैयाकरणाः', 'उपपाणिनि वैयाकरणाः' उदाहरण बनाए। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्रपर 'ब्रह्मदत्ते पंचालाः' था, जब पंचाल देश की काम्पिल्य राजधानी में ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य करते थे, और उनका नाम लेकर कहानियाँ शुरू की जाती थीं, जैसा वासवदत्ता नाटक के पाँचवें अंक में बच्चे को कहानी सुनाते समय उसके प्रारंभिक बोल में आया है।

मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरण

पंतजलि ने लिखा है कि सूत्रों के साथ कुछ ऐसे उदाहरण थे जो एक प्रकार से उनके अनिवार्य अंग थे। ऐसे उदाहरण मूर्द्धाभिषिक्त कहलाते थे (भा०१।१।५७)।

कैयट के अनुसार सभी वृत्तिकार इस प्रकार के उदाहरणों को स्वीकार करते थे (सर्ववृत्त्युदाहृतत्त्वात्)। संभवतः दूसरे व्याकरणों में भी उन उदाहरणों को प्रमाण मानकर सूत्ररचना की जाती थी। कभी कभी वे उदाहरण इतने महत्त्वपूर्ण होते थे कि उनपर सूत्रों और वार्तिकों की रचना और विचार किया जाता था। 'उपमानानि वचनैः' (२।१।५५) सूत्र पर पतंजलि पूछते हैं 'किं पुनरिहोदाहरणम्। शस्त्री श्यामा।', और इसी 'शस्त्री श्यामा' को आधार मानकर कात्यायन ने सूत्र पर दो वार्तिक रचे थे। ज्ञात होता है कि उदाहरणों को ध्यान में रखकर वैयाकरण विचार में प्रवृत्त होते थे। वस्तुतः लक्ष्य-लक्षण का ही नाम व्याकरण था, अर्थात् शब्दों के विद्यमान होने पर उनके नियम या सूत्र (लक्षण) बनाए जाते थे। व्याकरण का मूल आरंभ तो शब्द, लक्ष्य या उदाहरणों से ही हुआ होगा।

सूत्रों के शिक्षक पाणिनि

पतंजलि ने अष्टाध्यायी को 'वृत्तिसूत्र' (भा० २।१।१) कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रों पर बहुत पूर्व में ही वृत्ति की रचना हो चुकी थी। संस्कृत के सभी विद्वानों की भाँति पाणिनि भी शिष्यों को पढ़ाते रहे होंगे, उनके पढ़ाने से जो व्याख्या बनी वही सूत्रों की पहिली वृत्ति हुई। पतंजलि ने स्वयं लिखा है कि कौत्स पाणिनि के शिष्य थे—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् (भा० ३।२।१०८)।

काशिकाकार ने इतना और कहा है कि कौत्स पाणिनि के अंतेवासी रूप में उनसे अध्ययन भी करते थे—

अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्
उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम् (का० ३।२।१०८)

पतंजलि ने निश्चित रूप से लिखा है कि पाणिनि ने अपने शिष्यों को सूत्रों का अर्थ पढ़ाया था। 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर विचार करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'प्राक्कडारादेका संज्ञा' भी इसका पाठ था। दोनों पाठ पाणिनि के ही बनाए हुए थे—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः।

कात्यायन ने भी इस सूत्र पर अपने वार्तिकों में दोनों पाठों को स्वीकार किया है, (भा० १।४।१, वा० १ तथा ६), जिसका आधार पाणिनि की अपनी

व्याख्या ही हो सकती है। काशिकाकार ने किसी अन्य टीका (अपरा वृत्ति) के आधार पर 'तद्वहति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः' (५ । १ । ५०) सूत्र के दो अर्थ दिए हैं और उस प्रसंग में कहा है कि दोनों अर्थ स्वयं पाणिनि ने शिष्यों को पढ़ाए थे (सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः)। इसी प्रकार 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' (५ । १ । ९४) सूत्र पर उसी टीका का प्रमाण देते हुए काशिकाकार ने दो अर्थ करते हुए लिखा है—

उभयं प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थात् दोनों ही अर्थ मान्य हैं, क्योंकि दोनों को दृष्टि में रखकर ही सूत्र रचा गया। तत्प्रकृतवचने मयट् (५ । ४ । २१) की टीका में भी काशिका ने ठीक यही बात कही है। इन उदाहरणों से यही ज्ञात होता है कि पाणिनि ने स्वयं सूत्रों की व्याख्या की थी जो पाणिनीय शास्त्र के अध्येता गुरु-शिष्यों की परंपरा से बराबर चली आई। तदधीते तद्वेद (४ । २ । ५९) के अनुसार पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवाले और जाननेवाले आचार्य इस देश में बराबर चले आते रहे हैं और आज भी हैं, कोई समय ऐसा नहीं हुआ जब यह परंपरा टूटी हो। इसी के आधार पर अनुनासिक स्वर (उपदेशजनुनासिक इत्, १।३।२) और अधिकार-वाची स्वरित (स्वरितेनाधिकारः, १ । ३ । ११) के विषय में पाणिनीयों की मौखिक प्रतिज्ञा ही आज तक प्रमाण मानी जाती है। वार्तिककार, पतंजलि और कैयट सभी पाणिनिशास्त्र की मौखिक परंपरा के समर्थक हैं। भाष्य में सूत्र १ । ४ । ४ पर श्लोक-वार्तिक का एक अंश इस प्रकार है—

तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत

अर्थात् मेधावी आचार्य पाणिनि के उस वचन का स्मरण करो। कैयट ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि 'स्मरत' पद पाणिनीय शास्त्र के अविच्छिन्न रहने की सूचना देता है (आगमस्याविच्छेदम्)। प्रदीप की भूमिका में अपने ग्रंथ को भी पाणिनि-आगम के अनुकूल रचा हुआ कहा है (यथागमं विधास्येऽहम्)।

सूत्रों की आरंभिक वृत्ति का रूप

कात्यायन और पतंजलि दोनों ही सूत्रार्थ के लिये व्याख्यान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। पतंजलि के अनुसार सूत्रों पर आरंभिक व्याख्याओं का स्वरूप इस प्रकार था—

(१) चर्चा—सूत्र के एक-एक पद को अलग करना। जैसे वृद्धिः + आत् + ऐच्=वृद्धिरादैच्।

(२) वाक्याध्याहार—सूत्र के अर्थों को पूरा करने के लिये पिछले सूत्र या सूत्रों से शब्दों की अनुवृत्ति।

(३) उदाहरण।

(४) प्रत्युदाहरण।

सूत्रकार के समय से लेकर वृत्तियों का ढाँचा इसी प्रकार का रहा होगा। काशिकावृत्ति का ठाठ भी यही है और लगभग आज भी सूत्रों को समझाने का यही ढंग चालू है। आरंभ से ही हरएक सूत्र के साथ उसके उदाहरण अवश्य पढ़ाए जाते रहे। अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (१।४।८६), शाकटायनपुत्रः (६।२।१३३), नंदपुत्रः (६।२।१३३), नंदोपक्रमाणि मानानि (२।४। २१), अधिब्रह्मदत्ते पंचालाः (१।४।६७) , शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् (१।४।८४), अनडुद्यज्ञमन्वसिंचत् (१।४।८४), अगस्त्यमन्वसिंचन् प्रजाः (१।४।८४), इत्यादि उदाहरण व्याख्याओं के आरंभिक स्तर को सूचित करते हैं।

पाणिनीय परंपरा की रक्षा में प्रत्येक उपलब्ध टीका का अपना मूल्य है। वह व्याकरण की लंबी शृंखला में एक कड़ी है। इस दृष्टि से वार्तिक, महाभाष्य, काशिका, त्रिपादी, न्यास, पदमंजरी आदि टीकाओं ने व्याकरण की प्राचीन सामग्री की रक्षा में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। कात्यायन के वार्तिक बताते हैं कि उनसे पहिले भी अन्य आचार्यों ने सूत्रों के शब्दों और अर्थों पर बारीकी से छानबीन की थी। कात्यायन और पतंजलि के बीच में भी कितने ही विद्वान् वैयाकरण हुए जिन्होंने श्लोक-वार्तिकों में अथवा वार्तिक-सूत्रों में पाणिनि और कात्यायन दोनों के ही ग्रंथों पर विचार किया। भारद्वाजीय, सौनाग, क्रोष्ट्रीय और कुणरवाड़व, इन वार्तिककारों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। कहीं बिना नाम के ही 'एके', 'केचित्', 'अपरे', इन संकेतों से अन्य आचार्यों के मत दिए गए हैं। सूत्रों पर विचार करते हुए कात्यायन और पतंजलि अपने इन पूर्ववर्ती आचार्यों के ऋणी थे और पाणिनि की ही भाँति उन्होंने भी अपने ग्रंथों में अपने से पूर्वकालीन लेखकों की सामग्री की रक्षा की।

इस प्रकार यह पाणिनीय शास्त्र उत्तरोत्तर पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित होता हुआ लोक में भरा हुआ है। भारतवर्ष की यह ब्रह्मराशि है। जो इसे यथावत् जानता है वह शब्दविद्या में पारगामी बन जाता है।

पुराणों की इक्ष्वाकु-वंशावली

[ले० श्री राय कृष्णदास]

राजवंशावलियाँ पुराणों की एक प्रधान अंग एवं सर्वथा प्रामाणिक तथा विश्वसनीय सामग्री हैं। पार्जिटर ने जिस प्रकार इनकी प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है वह बहुत पांडित्य पूर्ण, प्रबल एवं जँचनेवाला है। प्रस्तुत लेख में पुराणों में वर्णित इक्ष्वाकु-वंशावली पर अधिकतर पार्जिटर के सहारे तथा कुछ अपनी ओर से प्रकाश डाला जायगा।

पुराण हमें ऐसे व्यक्तियों की परंपरा से प्राप्त ऐतिहासिक अनुश्रुति देते हैं जिनका कार्य पूर्व-काल का वृत्तांत रक्षित करना था। फिर भी आजकल प्राचीन भारत के इतिहास के लिये इन पुराणों को छोड़कर वैदिक साहित्य की छानबीन की परिपाटी चल रही है। यह उलटा, अतएव निस्सार प्रयत्न है, क्योंकि वैदिक साहित्य कोई ऐतिहासिक वाङ्मय नहीं है; तथापि यदि वर्तमान पद्धति के अनुसार पहले वैदिक साहित्य को ही टटोला जाय तो पता चलेगा कि वेद में जहाँ कहीं भी पुराणों के सम-सामयिक उल्लेख हैं वहाँ उनसे पौराणिक उल्लेखों का समर्थन ही होता है यथा उत्तर-पांचाल-वंशावली के एक टुकड़े का।

ऐसा सोचना कि इस प्रकार के वैदिक उल्लेखों पर से पुराण-वंशावलियाँ गढ़ने की माथापच्ची की गई, द्रविड़ प्राणायाम होगा। यदि ऐसा होता तो वैदिक साहित्य में आनेवाले प्रत्येक प्रमुख राजा वा राजकुल की वंशावली तैयार की गई होती, परंतु ऐसा हम नहीं पाते। और यदि इन वंशावलियों का उद्देश्य वैदिक नामों को महत्त्व देना होता तो उत्तर-पांचाल-वंशावली को पुराणों में सर्वप्रथम स्थान मिला होता, क्योंकि ऋग्वेद में जितनी आशंसा इस वंश की है उतनी और किसी की नहीं। ऋग्वेद का अधिकांश कुरु तथा पांचालों के उत्कर्ष-युग की, एवं उन्हीं की छत्रछाया में हुई, उन्हीं के प्रांतों की रचना है। इस कारण यही एक वंशावली है जिसका प्रतिपादन ऋग्वेद के हवालों से, जो उस वंश के समकालीन हैं, हो जाता है। यदि सभी पौराणिक वंशावलियों के संबंध में वैदिक प्रमाण उपलब्ध नहीं

हैं तो इसका दायित्व वेदों पर ही है, इसके कारण पौराणिक वंशावलियों की सत्यता में कोई बाधा नहीं आती।

यदि ये वंशावलियाँ गढ़ी गई होतीं तो इनमें से कई-एक अधूरी एवं बीच-बीच में से खंडित न मिलतीं, कई के एकाधिक रूप न मिलते और कम से कम पुराण में आनेवाले सभी प्रमुख वंशों की, जैसे मत्स्य, विराट, शाल्व, भौम, निषध आदि की, तो अवश्य तैयार की गई होतीं। इन वंशावलियों में जैसी वास्तविकता, जैसा निजस्व एवं जिस प्रकार ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं उनसे भी यही विदित होता है कि ये गढ़ी नहीं गई हैं, प्रत्युत इनका अस्तित्व था और ये उन वंशों की सम-सामयिक हैं।

ब्राह्मणों की प्राचीन काल में जो पद-मर्यादा थी उसके होते हुए भी उनका कोई ठीक-ठीक वंशानुक्रम नहीं मिलता। उन्होंने अपनी वंशावली तो तैयार न की और राजवंशावलियाँ गढ़ डालीं—ऐसी कल्पना असंगत है। अतएव इन राजवंशावलियों के संबंध में यही निष्कर्ष युक्तिसंगत है कि ये वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री हैं जो पुराणों में संहित कर दी गई हैं।

इन वंशावलियों में बार-बार राजवंशों से ब्राह्मण-वंशों और गोत्रों की उत्पत्ति मिलती है। इस प्रकार के उल्लेख ब्राह्मण-आत्मगौरव के सर्वथा प्रतिकूल हैं और यदि ये वंशावलियाँ वास्तविक न होतीं तो उनमें ऐसे उल्लेख कदापि न आने पाते।

इन वंशावलियों के अनुगामी वृत्तांतों के संकलन से भारतवर्ष में आर्यों के फैलने का जो विवरण प्रस्तुत होता है उससे आधुनिक मानवशास्त्र एवं भाषाशास्त्र के अनुसार भारतवर्ष का वर्गीकरण सर्वथा अनुमोदित एवं प्रमाणित हो जाता है। कल्पना से इस प्रकार का मसाला तैयार करना सर्वथा असंभव है। यह युक्ति पौराणिक वंशावली की सत्यता के पक्ष में सबसे प्रबल पड़ती है।

आजकल अधिकतर ऐतिहासिक पंडित पुराणों का जो काल मानते हैं (ई० पू० दसवीं शती से गुप्तकाल तक), यद्यपि वह हमें स्वीकार नहीं है फिर भी यह बात लक्ष्य करने की है कि उक्त समय के कहीं पहले पौराणिक वंशावलियों का अंत हो चुका था और पृथ्वी उनके हाथों में नहीं रह गई थी। ऐसी दशा में यदि ये वंशावलियाँ वस्तुतः अप्रामाणिक होतीं तो पुराणकार क्यों इन्हें पुराणों में स्थान देते?

पुराणों में राज-परंपराओं का वृत्त इन वंशावलियों का अनुसरण करता है। इतिहास कहने की परिपाटी उस समय आजकल के ऐसी न थी कि सारे देश का इतिहास कालानुक्रम से कहा जाय। उस समय प्रत्येक राजवंश के अलग-अलग सूत होते थे जो अपने-अपने राजवंश का वंशानुचरित अलग-अलग संदर्भित करते और उनका संरक्षण करते थे तथा राज-परंपरा कहने में जिस राजा के संबंध में जो महत्त्वपूर्ण विषय आता था उसकी यथेष्ट चर्चा यथास्थान कर देते थे। इसी से ऐसी चर्चाओं को पुराण के लक्षण में 'वंशानुचरित' कहा है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक ब्योरेवार वंशावलियों को प्रायः 'वंश' ही कहा करते थे, कभी 'वंश-पुराण' भी कहते थे। इन 'वंशों' के विशेषज्ञ होते थे जो इनपर विचार और इनकी जांच-पड़ताल किया करते थे।[1] वर्तमान पुराणों में जो वंशावलियाँ दी हैं वे उन्हीं प्राचीन वंशों पर अवलंबित हैं। वे वंश अब सर्वथा लुप्त हो गए हैं। किंतु वर्तमान वंशावलियों पर विचार करने से यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित होती है कि वंशों की कई वाचनाएँ थीं।

वेदव्यास ने जो पुराण संहित किया था उसकी उनके प्रशिष्यों के हाथ चार वाचनाएँ हो गई थीं। इन वाचना-भेदों का कारण पौराणिक अनुश्रुतियों का रूपभेद था, सो पुराणों के वर्तमान रचयिताओं ने उन्हीं भिन्न वाचनाओं के आधार पर सांप्रत पुराणों में वंशावलियाँ दी हैं। इसी से भिन्न-भिन्न पुराणों में एक ही कुल के अनुक्रम में कुछ अंतर और भेद मिलते हैं।

पुराणों में सम्मिलित की जाने पर भी वंशावलियों में लेख-प्रमादवश, प्रतियों के खंडित हो जाने से एवं इनके संकलयिताओं का उद्देश्य प्रधानतः अनैतिहासिक होने के कारण कुछ अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ आ गई हैं।[2] उदाहरणार्थ—

(१) विष्णुपुराण में इक्ष्वाकुवंशीय विष्णुवृद्ध राजा के विषय में जो प्रशस्ति गाथा है वह स्थानांतरित हो गई है।

(२) ब्रह्मांड में कई स्थानों पर नाम छूट गए हैं, जैसे प्रसेनजित् का।

(३) अनेक स्थलों पर आवश्यक चूर्णिकाएँ छूट गई हैं जिनके कारण विशेष गड़बड़ी हुई है; यथा भविष्य (महाभारत के बाद की) वंशावलियों में अवंती के

१—राजपूताने के चारणों में यह परिपाटी अब तक चली आती है।

२—केवल हरिवंशकार में कुछ ऐतिहासिक भावना मिलती है।

प्रद्योत-वंश के संबंध में कोई चूर्णिका न रहने के कारण विद्वानों को उसके विषय में बड़े बड़े धोखे हुए। इसी प्रकार भविष्य इक्ष्वाकु-वंशावली में शाक्य शाखा की वंशावली मिल गई है और चूर्णिका के अभाव में विद्वानों को उसने चक्कर में डाला है।

(४) नामों के रूप कुछ से कुछ हो गए हैं।

पौराणिक वंशावलियों में ऐक्ष्वाक वंशावली ही अन्य सभी वंशावलियों से परिपूर्ण हैं। वह संभवतः अविच्छिन्न है। अन्य वंशावलियों में कई स्थानों पर लंबी लंबी टूटें हैं। कितने ही अप्रधान नाम तो जान-बूझकर छोड़ दिए गए हैं और उनकी प्रकृति भी भिन्न है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

ऐक्ष्वाक वंशावली पर विचार करने के लिये उसे तीन भागों में बाँटना पड़ता है—(१) आरंभ अर्थात् वैवस्वत मनु से अहीनगु तक, (२) अहीनगु के उत्तराधिकारी से महाभारत-काल किंवा द्वापर के अंत तक, (३) महाभारत के बाद कलियुग में होनेवाले ऐक्ष्वाकों की, जिनके साथ इस परंपरा का अंत हो जाता है। किंतु यह तीसरा भाग वर्तमान निबंध का विचार्य विषय नहीं है। यहाँ केवल उस वंशावली के पहले दो भागों का ही विवेचन किया जायगा।

वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, भागवत, गरुड़, विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी-भागवत; ब्रह्म, हरिवंश एवं शिव; कूर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि—इन पंद्रह ग्रंथों में ऐक्ष्वाक सूचियाँ दी हैं। 'भारत' में प्रारंभ से धुंधुमार तक की सूची है। इनमें से वायु निर्विवाद रूप से सबसे प्राचीन है। ब्रह्मांड प्रायः अक्षरशः उसका अनुसरण करता है। वर्तमान वायु और ब्रह्मांड एक ही मूल वायुपुराण की दो शाखाएँ जान पड़ते हैं। इसी कारण ब्रह्मांड भी अपने को वायुप्रोक्त कहता है। विष्णु और भागवत भी इसी संप्रदाय के हैं। किंतु प्रधानतः धार्मिक एवं पिछली कृतियाँ होने के कारण इन्होंने आवश्यक ऐतिहासिक चूर्णिकाओं और टिप्पणियों का विशेष ध्यान नहीं रक्खा है, वा उनका रूप धार्मिक कर दिया है। विष्णु की वंशावली गद्य में है, भागवत की श्लोकात्मक। ये श्लोक वायु से भिन्न हैं, भागवतकार की अपनी रचना हैं। गरुड़ की वंशावली भी इसी मत की है एवं श्लोकबद्ध है। उसके श्लोक भी निजी हैं। विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी-भागवत की ऐक्ष्वाक वंशावली अधूरी है। वे भी वायु-मत की हैं, किंतु उनके श्लोक अपने हैं।

यद्यपि शेषोक्त पाँच पुराण (विष्णु, भागवत, गरुड़, विष्णुधर्मोत्तर एवं देवी-भागवत) बहुत इधर के हैं तो भी इनमें से या इसी श्रेणी के पिछले अन्य

पुराणों से अनेक पते की और काम की बातें प्राप्त होती हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि इनके गुंफन होने के समय तक भी 'वंश'-संबंधी बहुत कुछ उपादेय और महत्त्वपूर्ण सामग्री संभवतः उपलब्ध थी।

भारत की धुंधुमार तक की वंशावली भी इसी वायुमत की है और उसके श्लोक वायु से मिलते-जुलते हैं। निदान ऐक्ष्वाक वंशावली के संबंध में उक्त आठ ग्रंथों का एक संदर्भ मानना चाहिए। अर्थात् जिस प्राचीन 'वंश' पर इनकी वंशावलियाँ अवलंबित हैं वह अन्य पुराणों के मूलभूत 'वंशों' से भिन्न था। इस संदर्भ को हम 'वायु-संदर्भ' कहेंगे। इस संदर्भ की विशेषता यह है कि इसमें प्रायः समस्त ऐक्ष्वाक शासकों के नाम आए हैं और यथास्थान ऐतिहासिक चूर्णिकाएँ भी हैं।

दूसरा संदर्भ ब्रह्मपुराण, हरिवंश और शिवपुराण से बनता है। इसे हम 'ब्रह्म-संदर्भ' कहेंगे। ब्रह्म और हरिवंश के पाठ प्रायः शब्दशः एक हैं। शिव ने भी उसी पाठ को घटा-बढ़ाकर रक्खा है। यह संदर्भ हर बात में वायु से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है, किंतु द्वितीय दिलीप और कल्माषपाद के बीच छः-सात नामों का अंतर है और जैसा हम आगे देखेंगे, इस अंतर का विशेष महत्त्व है (पृ० २३४)। अतएव 'यह वंश' की किसी अन्य शाखा पर अवलंबित है।

तीसरा संदर्भ कूर्मपुराण और लिंगपुराण का है। इसे हम 'कूर्म-संदर्भ' कहेंगे। इसमें की आरंभ से अहीनगु तक की वंशावली तो व्यापक रूप से वायु-संदर्भ के समान है, किंतु उसके बाद से द्वापर के अंत की वंशावली एकदम भिन्न है।

चौथा 'मत्स्य-संदर्भ' है। यह मत्स्यपुराण (जो वर्तमान पुराणों में काफी प्राचीन है, संभवतः वायु का समकालीन ही है), पद्मपुराण और अग्निपुराण से बनता है। इनमें मत्स्य और पद्म तो शब्दशः एक ही हैं। अग्नि अपने श्लोकों में केवल राजाओं के नाम देता है। वंश की जिस वाचना पर यह संदर्भ अवलंबित है उसकी विशेषताएँ ये हैं कि (क) अप्रधान राजाओं के नाम छोड़ दिए गए हैं तथा (ख) आरंभ से अहीनगु तक यह ब्रह्म-संदर्भ के अनुकूल है और वहाँ से द्वापर के अंत तक कूर्म-संदर्भ के अनुकूल। इन विशेषताओं के कारण यह संदर्भ अपना एक स्थान और महत्त्व रखता है और निश्चित रूप से वंश की एक अन्य शाखा पर अवलंबित है।

इक्ष्वाकु-वंश के उक्त चार संदर्भों में जो विशेषताएँ हैं, जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, उनके अनुसार ये दो मुख्य भागों में विभक्त होते हैं। अर्थात् वायु और ब्रह्म-संदर्भ में बहुत-कुछ साम्य है तथा कूर्म और मत्स्य में बहुत-कुछ ऐक्य है। उक्त संदर्भण तत्-तत् पुराणों में आई हुई मनु से बृहद्बल तक की ऐक्ष्वाक वंशावली को लक्ष्य करके किया गया है। संभव है अन्य वंशावलियों के संबंध में इनका संदर्भण भिन्न प्रकार से हो। यहाँ उक्त संदर्भों के विवेचन से ऐक्ष्वाक वंशावली का एक असंदिग्ध रूप स्थिर करने का प्रयत्न किया जायगा। किंतु ऐसा करने के पहले यह देख लेना उचित है कि यह वंशावली वास्तव में है क्या चीज।

हमारे प्राचीन साहित्य में 'वंश' शब्द का प्रयोग इन राजवंशों के सिवा तीन स्थलों पर और हुआ है—(१) वैदिक वाङ्मय में 'वंशब्राह्मण', (२) पुराणों में 'ऋषिवंश' तथा (३) बौद्ध साहित्य में 'बुद्धवंश'। इन तीनों स्थलों में कहीं भी वंश कुल-परंपरा का वाचक नहीं है। वंशब्राह्मण में वह गुरु-शिष्य-परंपरा है, जिस अनुक्रम से वेद की शाखाएं एक दूसरे को प्राप्त हुईं। 'ऋषिवंश' में एक मूल ऋषि के कुल में समय-समय पर जो विशिष्ट व्यक्ति (प्रवर) पैदा हुए वा मिल गए और उनसे जो शाखाएँ फूटीं उनका ब्योरा है। बुद्धवंश में सिद्धार्थ की पैत्रिक परंपरा नहीं है, अपितु उन पचीस महामानवों की परंपरा है जिन्होंने समय-समय पर, किंतु अनुक्रम में, बुद्धत्व प्राप्त किया था और जिनमें सिद्धार्थ अंतिम हैं।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि 'वंश' कुल-परंपरा के ही लिये नहीं, अन्य परंपराओं के लिये भी प्रयुक्त होता था। इक्ष्वाकु-वंश इसी दूसरे प्रकार का है। वह कुल-परंपरा न होकर शासक-परंपरा है; शासकों की अनुक्रमिक सूची है। मनुष्य के सभी वंशों की भाँति इक्ष्वाकु-वंश की भी अनेक शाखाएँ रही होंगी। ऐसी कितनी ही शाखाओं का इंगित पुराणों में मिलता भी है।[3] किंतु उनकी कोई वंशावली नहीं दी है।

३—यथा (क) चौदहवें ऐक्ष्वाक राजा दृढाश्व तीन भाई थे, इन तीनों से अलग-अलग परंपाएँ चलीं—तेषां परंपरा राजन्...।

(ख) रेणुक नामक ऐक्ष्वाक राजा, जिसकी कन्या रेणुका परशुराम की माता थी, किसी अन्य ऐक्ष्वाक शाखा का था।

ऐक्ष्वाक वंश की (तथा अन्य क्षत्रिय-वंशों की) प्रकृति तीन प्रकार की है—(१) राजा (२) श्रेणि के मुखिया तथा (३) अन्य क्षत्रिय । इनमें से पुराणों ने श्रेणियों के मुखियों तथा साधारण क्षत्रियों के वंशानुक्रम नहीं दिए हैं; केवल राज-परंपरा दी है। इन सूचियों के उपसंहार में जो श्लोक आए हैं उनमें यही बात स्पष्ट कर दी गई है, अर्थात् (१) ये नाम इक्ष्वाकु-दायादों के, इक्ष्वाकु-भूपालों के हैं, एवं (२) जिन्हें प्रधानता (मुखियापन) प्राप्त थी उन्हीं की उस प्राधान्य (शासनाधिकार) के कारण इन सूचियों में परिगणना की गई है; दूसरे शब्दों में इनमें राजा ही गिनाए गए हैं।

इन वंशों में जो नाम आते हैं उनका पूर्वापर चार प्रकार से व्यक्त किया गया है—

(१) क का पुत्र ख हुआ वा ख का पिता क था।

(२) क का ख हुआ; (कोई नाता नहीं इंगित किया गया)।

(३) ख क से हुआ वा क के उपरांत हुआ; (कोई नाता नहीं इंगित किया गया)।

(४) क का दायाद ख हुआ वा ख क का दायाद था।

इनमें से (२) और (३) में यह आवश्यक नहीं कि क ख पिता-पुत्र ही हों। (४) में तो निश्चित रूप से ख क का उत्तराधिकारी मात्र है। किंतु सबसे मार्के की बात तो यह है कि (१) की अवस्था में भी, अर्थात् जहाँ अमुक का पुत्र अमुक कहा गया है वहाँ भी, वैसा होना आवश्यक नहीं।[४] अतएव इन वंशों पर विचार

४—इक्ष्वाकु-वंश के दो राजा दल तथा बल सहोदर थे किंतु वंशावली में बल दल का पुत्र है। इसके दो कारण हैं; एक तो—

"वंशज या अनुयायी के अर्थ में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग समूचे भारतीय वाङ्मय में पाया जाता है।...नमूने के लिये सुत्तनिपात की ६६१ वीं गाथा में यह बात बिल्कुल स्पष्ट होती है—

पुरा कपिलवत्थुम्हा निक्खन्तो लोकनायको।
अपच्चो ओक्काकराजस्स सक्यपुत्तो पभंकरो।"

—रूपरेखा, १।१२७

राजस्थान में आज भी 'पुत्र' शब्द वंशज के अर्थ में आता है, यथा—राजपूत एवं रावत (=राजपुत्र), गुहिलोत (=गुहिलपुत्र), चूँडावत (=चूँडापुत्र) इत्यादि।

करते समय जहाँ पहले प्रकार के स्थल आते हैं वहाँ यह न मान बैठना चाहिए कि क-ख पिता-पुत्र ही थे, बल्कि यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे अनेक स्थलों पर 'पिता' से पूर्ववर्ती राजा और 'पुत्र' से उसका दायाद (अर्थात् राजनैतिक पिता-पुत्र, पूर्वधिकारी-उत्तराधिकारी) ही अभिप्रेत है। ऐक्ष्वाक राजपद्धति पर ध्यान देने से यह बात ठीक ठीक समझ में आ जाती है। इस पद्धति पर विस्तारपूर्वक विचार तो अन्यत्र किया जायगा, उसके मूल सिद्धांत यहाँ दिए जाते हैं—

(१) इक्ष्वाकु-राज्य में राजा का वरण होता था, अर्थात् शासक चुनाव द्वारा नियुक्त होते थे जिसमें प्रजा का बहुत कुछ हाथ होता था—

(२) ऐसे शासकों का ऐक्ष्वाक होना तो आवश्यक था, किंतु यह आवश्यक न था कि वे एक ही शाखा के पूर्ववर्ती राजा के ज्येष्ठ पुत्र ही हों। उनके लिये गुण-ज्येष्ठ होना आवश्यक था।

(३) प्रजा का प्रतिनिधित्व राजपुरोहित में केंद्रित रहता था, अतएव वही प्रधान मंत्री एवं राजकर्ता (राजा का नियोजक) होता था। शाक्यों के समय तक भी (जो ऐक्ष्वाकों की एक पिछली शाखा थी) यह पुरानी प्रथा प्रचलित थी।

ऐसी अवस्था में ऐक्ष्वाक वंशावली कुल-परंपरा कैसे हो सकती है? तनिक और ब्योरे में जाने से यह बात बिलकुल निर्विवाद हो जाती है—

(१) शतपथ ब्राह्मण में हरिश्चंद्र को वैधस अर्थात् वेधा की संतान कहा है। इन वेधा का नाम किसी भी ऐक्ष्वाक वंशावली में नहीं मिलता। ऐसा अकारण नहीं है। हरिश्चंद्र के चौथे पूर्ववर्ती राजा त्रसदस्यु अपने पूर्ववर्ती राजा पुरुकुत्थ के दायाद हैं। ये त्रसदस्यु इक्ष्वाकुवंश की जिस शाखा में उत्पन्न हुए थे उसमें वेधा नामक कोई पूर्वज रहे होंगे, अतएव उन त्रसदस्यु की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हरिश्चंद्र भी अपने प्रवर वेधा के नाम पर वैधस कहे गए। फलतः प्रमाणित होता है कि हरिश्चंद्र एक दूसरी शाखा के ऐक्ष्वाक थे और शासक होने के नाते इस परंपरा में सम्मिलित किए गए हैं। इसी भाँति—

दूसरे, ये वंशावलियाँ पुराने वंशों पर अवलंबित हैं जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रक्षित की गई थीं। वंशावलियों को वर्तमान रूप देते समय वह दृष्टिकोण बिल्कुल गौण हो गया था, अतएव इनमें ऐसी बारीकियों की उपेक्षा की गई है। तो भी इनमें 'तस्य दायादः' के अतिरिक्त 'ततः परं' 'ततः स्मृतः' आदि पद राजनैतिक उत्तराधिकारी के ही द्योतक हैं, वंशानुक्रम के नहीं।

(२) ऋतुपर्ण को पंचविंश-ब्राह्मण तथा 'भारत' में शृंगाश्व का अपत्य लिखा है। इन शृंगाश्व का भी वर्तमान ऐक्ष्वाक परंपरा में कोई उल्लेख नहीं है। अतएव ये ऋतुपर्ण ऐक्ष्वाक वंश की किसी दूसरी शाखा में उत्पन्न हुए थे और ऐक्ष्वाक राज्य के उत्तराधिकारी होने मात्र से वे इस अवली में पिरोए गए हैं। इसी कारण वे अपने पूर्ववर्ती राजा अयुतायु के दायाद हैं। यह बात उनके पैत्र नाम शार्गांश्व से भी प्रमाणित होती है। शृंगाश्व उनकी शाखा के पूर्वज का नाम है।

(३) कल्माषपाद के बाद और द्वितीय दिलीप के पूर्व वायु एवं कूर्म संदर्भ सात नाम देते हैं तथा मत्स्य एवं ब्रह्म संदर्भ पाँच या छः नाम देते हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यथा—
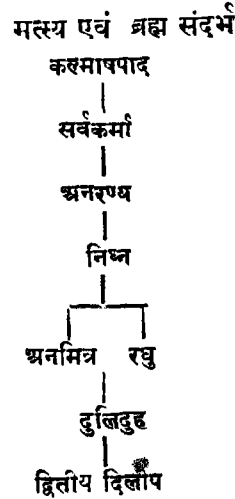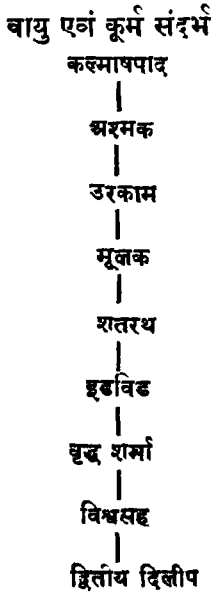
कल्माषपाद और द्वितीय दिलीप की मध्यवर्ती उक्त दोनों परंपराओं में इतनी विभिन्नता है कि संभवतः इनका समीकरण (विश्वसह-दुलिदुह को छोड़कर) किसी प्रकार नहीं हो सकता; न यही कहा जा सकता है कि इनमें से एक मान्य है दूसरी नहीं, क्योंकि इनकी पूर्ववर्ती परंपरा में सभी पुराणों में व्यापक ऐक्य है और इस विभेद के बाद द्वितीय दिलीप से अहीनगु तक पुनः व्यापक ऐक्य है। अतः इस विभेद का यही अर्थ हो सकता है कि कल्माषपाद से द्वितीय दिलीप तक ऐक्ष्वाक राज्यलक्ष्मी चंचला हो उठी थी। प्रजा के एक समुदाय ने एक परंपरा के व्यक्तियों को राजा माना था और दूसरे दल ने दूसरी परंपरा के पुरुषों को।

वस्तुतः बात भी यही है। कल्माषपाद को एक धार्मिक झगड़े के कारण राज्यच्युत होना पड़ा था। उस समय वैदिक धर्म के मुख्य दो संप्रदाय प्रचलित थे—एक तो वरुण-संप्रदाय और दूसरा इंद्र-संप्रदाय। पहला संप्रदाय पुराना था, दूसरा अपेक्षाकृत नवीन। इस दूसरे संप्रदाय का सूर्य उत्कर्ष पर था। पुराना संप्रदाय धीरे धीरे इसी में विलीन हो रहा था, तो भी उसके कितने ही कट्टर अनुयायी थे। इक्ष्वाकु-कुल के पारंपरीण मंत्रि-पुरोहित का वशिष्ठ-वंश पुराने वरुण-संप्रदाय का अनुयायी था, इसी कारण वह 'आपव' एवं 'मैत्रावरुणि' कहा जाता था। उधर विश्वामित्र की परंपरा इंद्र-संप्रदाय की प्रचारक थी। यहाँ तक कि प्रथम विश्वामित्र के कौशिकवंशी होने के कारण इंद्र का एक नाम कौशिक पड़ गया। इसी धार्मिक झगड़े में विश्वामित्र के अनुयायी होने के कारण, फलतः वशिष्ठ-कुल के साथ अत्याचार करने के कारण कल्माषपाद बड़ी विपत्ति में पड़ गया था।

बृहद्देवता, भारत, वाल्मीकि और पुराणों में कल्माषपाद की उक्त विपत्ति की अनेक कथाएँ हैं। इन कथाओं का वास्तविक रूप क्या रहा होगा इसपर फिर विचार किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि कल्माषपाद को अपने कृत्यों के कारण ग्यारह बरस तक राज्यच्युत रहना पड़ा था। वशिष्ठ ने उसकी रानी मदयंती से नियोग द्वारा अश्मक को उत्पन्न किया था और विश्वामित्र तथा वशिष्ठ-कुलों में उसके कारण भारी विग्रह खड़ा हो गया था, जिसमें विश्वामित्र-वंश के नातेदार और धार्मिक अनुयायी जामदग्न्यों ने विश्वामित्र का साथ दिया था। यह विग्रह कल्माषपाद के बाद भी बना रहा। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त दो शाखाओं में से एक वशिष्ठ-अनुमोदित थी, दूसरी विश्वामित्र-अनुमोदित। किंतु प्रत्येक शाखा के एक-आध राजा अपदस्थ होने के भय से एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर ढुलते रहे। इसी से जामदग्न्यों के आक्रोश और आक्रमण का उल्लेख प्रथम शाखा के सर्वकर्मा पर और दूसरी शाखा के मूलक पर जो प्रायः तुल्यकालीन थे, पाया जाता है। इसी प्रकार—

(४) मत्स्य तथा कूर्म संदर्भों में द्वितीय दिलीप से अहीनगु तक की ऐक्ष्वाक वंशावली का वायु तथा ब्रह्म संदर्भों से मेल है। किंतु उसके बाद शेषोक्त संदर्भों की वंशावली में इकतीस नाम आते हैं जिनमें से अंतिम बृहद्बल महाभारत युद्ध में खेत रहा था। परंतु मत्स्य तथा कूर्म संदर्भों में इन इकतीस के बदले केवल छः ही नाम आते हैं जो इनसे सर्वथा भिन्न हैं।

रामचंद्र ने अपने सामने ही अपने भाई-भतीजों के राज्य अलग-अलग कर दिए थे और अपने दोनों पुत्रों में भी राज्य बाँट दिया था। इस प्रकार उन्होंने ऐक्ष्वाक चक्र को कई छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया था। जान पड़ता है कि अहीनगु के बाद इन्हीं में से किसी की राजपरंपरा को मत्स्य और कूर्म संदर्भों में किसी विशेष कारण से मान्यता दी गई है।

(५) वाल्मीकि में मनु से रामचंद्र तक की एक ऐक्ष्वाक वंशावली आती है। इस वंशावली का पौराणिक वंशावली से आकाश पाताल का अंतर है। यह अंतर मुख्यतः दो प्रकार का है—

(क) पीढ़ियों की संख्या का। पुराणों की वंशावली में इक्ष्वाकु से रामचंद्र तक तिरसठ नाम मिलते हैं। उधर रामायण की पीढ़ियों की संख्या केवल छत्तीस है। अर्थात् दोनों में प्रायः दूने का अंतर है। इसी प्रकार--

(ख) नामों का। दोनों वंशावलियों के नामों में भी महत् अंतर है। रामायण के छत्तीस नामों में से केवल अठारह ऐसे हैं जो रामचंद्र तक दोनों सूचियों में सामान्य हैं (द्रष्ट० सारणी)।

इस ऐक्ष्वाक वंशावली के सिवा रामायण में तीन वंशावलियाँ और आती हैं—(१) कुशिक-वंश की (२) वैशाली-वंश की एवं (३) जनक-वंश की। और इन तीनों वंशावलियों की पौराणिक वंशावलियों से व्यापक समानता है। ऐसी अवस्था में पुराणों से रामायण वाली ऐक्ष्वाक वंशावली के इतने विभेद का कोई प्रबल कारण होना चाहिए, विशेषतः जब कि रामायण इक्ष्वाकुओं का महदाख्यान हो। यह असंभव है कि ऐसे ग्रंथ में किसी भूले-भटके वंश को स्थान मिला हो। फलतः इतने विभेद का कारण स्पष्टतः यही है कि यह रामायण-गत ऐक्ष्वाक वंशावली ऐक्ष्वाक वंश वाली उस शाखा की कुल-परंपरा है जिसमें रामचंद्र उत्पन्न हुए थे और जो ऐक्ष्वाक वंश की मुख्य शाखा थी। अतएव इस 'वंश' में के केवल उन व्यक्तियों के नाम तो पौराणिक वंशावली में मिलते हैं जो इस शाखा से शासक होने के लिये वरण किए गए थे, शेष नाम दोनों में विभिन्न हैं। यह उपपत्ति इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि जो अठारह नाम दोनों वंशावलियों में सामान्य हैं वे ५, २, २, ५ और ३ के थोकों में उसी पौर्वापर्य में पाए जाते हैं जिनमें वे पौराणिक वंशावली में आए हैं (द्रष्ट० सारणी)।

इस उपपत्ति के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि उक्त अठारह नामों में से जो तीन नाम बचते हैं वे उसी अनुक्रम में नहीं आते जिसमें उन्हें

जाना चाहिए। अतः यह वंशावली प्रमाण योग्य नहीं है। किंतु इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि ये नाम या तो पौराणिक सूची के किन्हीं व्यक्तियों के अपर नाम हैं—यथा रामायण-सूची का असित पौराणिक सूची के बाहु का ही अपर नाम है, क्योंकि बाहु सगर का पूर्ववर्ती राजा ही नहीं, पिता भी था जैसा कि उस (बाहु) के वृत्तांत से अवगत होता है; संभवतः इसी प्रकार अन्य दो नाम भी पौराणिक सूची के किन्हीं और राजाओं के अपर नाम थे—अथवा दोनों सूचियों में एकनाम-धारी दो भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं। फलतः उक्त तर्क हमारी उपपत्ति में किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकता।[५]

अब रही पीढ़ियों के अंतरवाली बाधा; उसका भी पूर्ण-संतोषजनक सामंजस्य हो जाता है। अर्थात् शासन-पीढ़ियों का औसत पंद्रह वर्ष और जीवन-पीढ़ियों का औसत पचीस वर्ष होता है। इस हिसाब से इक्ष्वाकु से राम तक शासन-पीढ़ियाँ नौ सौ पैंतालीस (६३ × १५) वर्ष छेंकती हैं और छत्तीस जीवन-पीढ़ियाँ भी प्रायः उतना ही समय (अर्थात् ३६ × २५ = ६०० वर्ष) लेती हैं। अतः यह रामायण की वंशावली इस बात का निश्चित प्रमाण है कि पुराण की ऐक्ष्वाक वंशावली राजपरंपरा है, अर्थात् उनके नाम और अनुक्रम राज्यधरों के अनुसार है, जो इक्ष्वाकु-वंश की एकाधिक शाखाओं के व्यक्तियों से निर्मित हैं।

५—इस वंशावली को अप्रामाणिक ठहराने के लिये पार्जिटर ने दो और प्रमाण दिए हैं—एक तो यह कि इसमें नहुष और ययाति के नाम अनुक्रम में आए हैं जो आनुक्रमिक ऐल राजा थे; दूसरे यह कि इसमें अनुक्रम से छः नाम ऐसे आए हैं जो पौराणिक वंशावलियों में उसी अनुक्रम में राम के बाद आते हैं। पहली उपपत्ति का उत्तर यह है कि नहुष और ययाति नाम कुछ चंद्रवंश के स्वायत्त न थे, दूसरे कुलवाले भी उन नामों को रख सकते थे। और यह मनुष्य-स्वभाव है कि यदि किसी व्यक्ति का नाम किसी पुराने व्यक्ति के नाम पर पड़ता है तो यह पिछला व्यक्ति प्रायः अपने लड़के का नाम उस पूर्ववर्ती व्यक्ति के लड़के के नाम पर रखता है। यही प्रवृत्ति यहाँ भी संभावित है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के मंत्रकारों में हमें एक नाम नहुष-मानव मिलता है जो निश्चय ही रामायण-वंश का नहुष है, क्योंकि ऐक्ष्वाकों के लिये अभिजन-नाम 'मानव' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। साथ ही इस प्रमाण से रामायण की वंशावली की सत्यता प्रतिपादित होती है।

दूसरी आपत्ति के विषय में भी यही प्रवृत्ति लागू होती है, अर्थात् राम के परवर्तियों के नाम इन पूर्वजों पर पड़े। राजकुलों में तो यह रीति बहुत चलती है और ऐसे बहुतेरे उदाहरण विद्यमान हैं।

(६) पुराणों में कई कुल-वंशावलियाँ भी आई हैं।[६] उनकी प्रकृति ऐक्ष्वाक वंशावली से इतनी भिन्न है, उन कुलों की शाखा-प्रशाखा, भाई-बंद के इतने ब्योरे हैं कि उनकी तुलना में यह वंशावली राज-परंपरा के सिवा और कुछ नहीं हो सकती।

इस संबंध में अब और प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि पौराणिक ऐक्ष्वाक वंशावली की प्रकृति पर यथेष्ट विचार कर हम संभवतः यह प्रतिपादित करने में समर्थ हुए हैं कि वह राजाओं की आनुक्रमिक सूची है, वंशानुक्रमण (आनुवंशिक) नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन वंशावलियों के मूलभूत 'वंशों' का दृष्टि-कोण राजनैतिक था। इनके सांप्रत रूप में भी यह विशेषता बच रही है, यथा—

(क) इन वंशावलियों में कहीं-कहीं सहोदर भाइयों के नाम भी आए हैं; एकाध जगह कन्याओं के नाम भी आए हैं। किंतु ऐसा तभी हुआ है जब इन व्यक्तियों का कोई राजनैतिक महत्त्व रहा हो। अर्थात् सहोदर भाई या तो एक के बाद दूसरे राज्याधिकारी हुए हों, या उनसे नए वंश चले हों अथवा वे कहीं काम आए हों। इसी प्रकार लड़की का नाम भी तभी आया है जब उसका पुत्र राजा हुआ हो।

(ख) जिन व्यक्तियों ने शासन नहीं किया उनके नाम केवल उस अवस्था में दिए गए हैं जब उनका संबंध किसी राजनैतिक घटना से रहा हो।

इस उपोद्घात के अनंतर अब उक्त चारों संदर्भों की सहायता से ऐक्ष्वाक राजावली का एक असंदिग्ध रूप निर्धारित करना रह जाता है जिसकी चेष्टा आगे की जाती है।

६—यादव-सात्वत-वृष्णि-वंशावलियाँ इसके बड़े अच्छे उदाहरण हैं।

७—मनु की संतति का पुराणों में यह क्रम मिलता है।
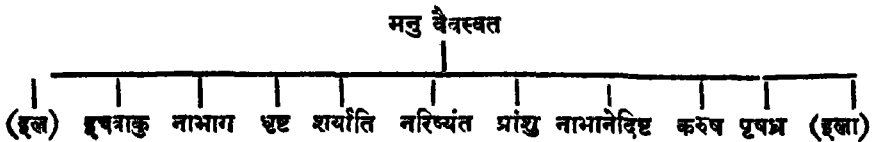
|
३ विकुक्षि = देवराट् = शशाद, तथा ९९ अन्य पुत्र
|
४ पुरंजय = ककुत्स्थ = इंद्रवाह तथा १४ ,, ,,
|
५ अनंत = सुयोधन (अयोधन)

किंतु मनु और इक्ष्वाकु के बीच क्षुप वा क्षुव का नाम प्रामाणिक अनुश्रुतियों में मिलता है। ऐक्ष्वाक वंशावली के आरंभ ही में आया है—मनोश्चक्षुवत......इत्यादि। अर्थात् मनु के क्षुव से इक्ष्वाकु नामक पुत्र (=अपत्य) हुआ। टीकाकारों ने यहाँ 'क्षुवतः' को भूत-कृदंत मानकर अर्थ किया है—'मनु को छींक आने से इक्ष्वाकु उत्पन्न हुए।' परंतु यह अर्थ गलत, अतः अग्राह्य है। भारत (१४।४) में विशाला-राजवंश के वर्णन में, जो एक प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन जँचता है, उसकी राजवंशावली भी आती है जिसमें यह क्रम मिलता है—

[इसमें मनु के बाद प्रजाति नाम को छोड़ देना पड़ेगा, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी उसका कोई इंगित नहीं मिलता; दूसरे, हो सकता है प्रजाति शब्द प्रसूति के अर्थ में आया हो ।]

इसी प्रकार भारत में एक सूची दी है कि शासन-खड्ग किस शासक के हाथ से किस शासक के हाथ में गया। इसका भी आरंभिक क्रम इस प्रकार है—

फलतः मनु और इक्ष्वाकु के बीच क्षुप वा क्षुव को स्थान देना और उन्हीं को इक्ष्वाकु-वंश का पहला ऐतिहासिक शासक मानना पड़ता है। इस संबंधमें इस शंका का कि इस जत्थे का नाम क्षुप वा क्षुव न होकर इक्ष्वाकु क्यों हुआ, समाधान इस प्रश्न में है कि इक्ष्वाकुओं का नाम ककुत्स्थ, निमि वा रघु क्यों हुआ अथवा ऐलों का पुरु, भरत वा कुरु क्यों पड़ा (मिलाओ ककुत्स्थेक्ष्वाकुसगररघु यदी इक्ष्वाकु की प्रवरता जान पड़ता है।

६ पृथु

७ वृषदश्व (विश्वगश्व, विष्टराश्व)

८ आर्द्र (आद्र, आर्द्र, आंध्र, चांद्र)

९ युवनाश्व

१० श्रावस्त

११ वत्सक[८]

१२ बृहदश्व

१३ कुवलाश्व = धुंधुमार

१४ दृढाश्व भद्राश्व (दंडाश्व, चंद्राश्व) कपिलाश्व
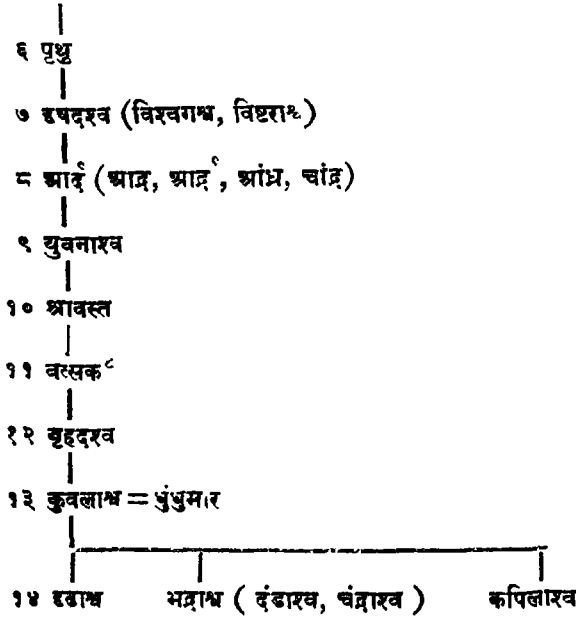
इन वंशावलियों में शासक के सहोदरों के नाम दो ही अवस्थाओं में आए हैं; अर्थात् (१) या तो वे वंशधर (नए वंश के संस्थापक) रहे हों वा (२) राज्यधर हों (उन्होंने राज्य किया हो)। वर्तमान प्रसंग में दृढ़ाश्व के उक्त दोनों भाई वंशधर थे।
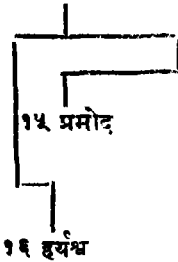
८—मत्स्य-संदर्भ के मत्स्य एवं पद्म तथा कूर्म-संदर्भ के लिंग के अनुसार श्रावस्त का पुत्र वत्सक था। उनके श्लोकों का संकलित पाठ इस प्रकार है—

श्रावस्तश्च महातेजो वत्सकस्तत्सुतोऽभवत्।
वंशाच्च बृहदश्वोऽभूत् कुवलाश्वस्ततोऽभवत्॥

(द्रष्ट० डास पुराण, पृ० १४५)

[वत्सक का वंशक और वत्सुक भी पाठांतर मिलता है।]

कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह नाम वायु-ब्रह्मांड में भी रहा होगा (द्रष्ट० सूची में सत्ताईसवें नाम हर्यश्व के बाद का नोट)। इन कारणों से यह नाम यहाँ होना चाहिए।

अग्निपुराण के इस प्रतीक से—

दृढाश्वस्तु हर्यश्वश्च प्रमोदकः।

यह प्रमाणित होता है कि हर्यश्व और प्रमोद सहोदर थे जिनमें प्रमोद कनिष्ठ था। किंतु मत्स्य एवं कूर्म संदर्भों में दृढ़ाश्व, प्रमोद और हर्यश्व के नाम अनुक्रम से आते हैं; अर्थात् इस क्रम से वे राज्यासीन हुए। अन्य संदर्भों में प्रमोद का नाम नहीं आता।
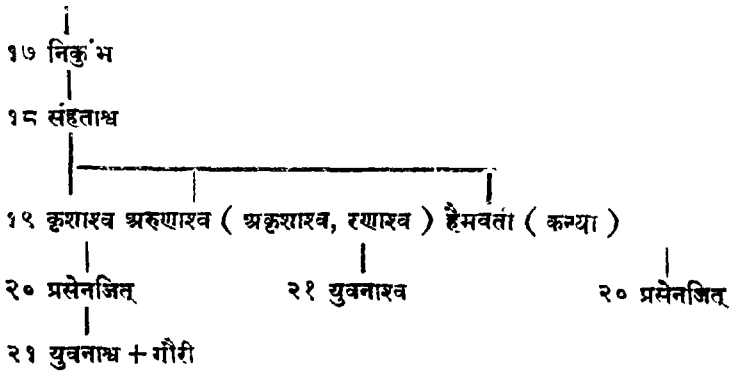
कृशाश्व के बाद वायु और ब्रह्म संदर्भों में प्रसेनजित् का नाम आता है। वायु-ब्रह्मांड से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे किसके पुत्र थे। मत्स्य और कूर्म संदर्भों में कृशाश्व के बाद युवनाश्व का नाम है और इनमें उन्हें अरुणाश्व का पुत्र लिखा है। हरिवंश (ब्रह्म-संदर्भ) ने अधिक ब्योरे में जाकर इस विषय पर प्रकाश डाला है; अर्थात् संहताश्व के दो पुत्रों के सिवा हैमवती नाम की कन्या भी थी। प्रसेनजित् इन्हीं के पुत्र थे। इस चूर्णिका से वायु-ब्रह्मांड वाली अस्पष्टता दूर हो जाती है। जिस अनुक्रम में ये नाम आए हैं उससे पता चलता है कि कृशाश्व के बाद प्रसेनजित् सिंहासनस्थ हुए और उनके बाद युवनाश्व। तदनुसार उक्त क्रम स्थिर किया गया है। मत्स्य ने अप्रधान राजाओं के नाम छोड़ दिए हैं, इसी कारण उसमें प्रसेनजित् का नाम नहीं है।
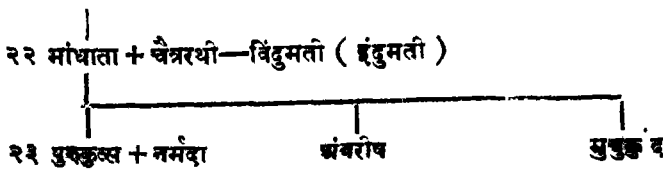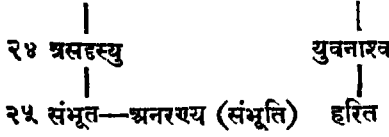
वायु-ब्रह्मांड ने तथा कूर्म-संदर्भ ने संभूत तथा अनरण्य को दो राजा मानकर उनके नाम अनुक्रम में दिए हैं। किंतु यह भूल जान पड़ती है, क्योंकि विष्णु ने स्पष्ट कहा है—'त्रसदस्युतः सम्भूतोऽनरण्यः'। यदि संभूत को यहाँ भूत-कृदंत मानें तो भी बात वही रहती है, अर्थात् त्रसदस्यु के बाद अनरण्य ही आते हैं। किंतु उसे भूत-कृदंत मानना ठीक नहीं, क्योंकि वह सभी पुराणों में संज्ञा-रूप में आया है। विष्णुधर्मोत्तर में भी लिखा है—

पुरुकुत्सः सुतस्तस्य त्रसद्स्युस्तदात्मजः।
शम्भुस्तस्यात्मजः श्रीमाननरण्येति विश्रुतः॥ (१।१७।३)

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त श्लोक का 'शंभु' संभूत का ही अपरूप है। भागवत तथा गरुड़ ने भी त्रसदस्यु के बाद ही अनरण्य दिया है। अर्थात् संभूत उनके मत से दूसरे राजा न थे। यदि होते तो उनका नाम उन्होंने यथास्थान त्रसदस्यु और अनरण्य के बीच में दिया होता। संभूत को वे अनरण्य का ही अपर नाम मानकर छोड़ गए हैं। हरिवंश (ब्रह्म-संदर्भ) में संभूत के बाद एकदम से अट्ठाईसवें राजा वसुमना तथा मत्स्य-संदर्भ में उनतीसवें राजा त्रिधन्वा आते हैं। अप्रधानता के कारण बीच के नाम उनमें छोड़ दिए गए हैं। अतएव यह अभावात्मक प्रमाण हाँ वा नहीं किसी भी पक्ष का समर्थक नहीं हो सकता। इस भाँति कुल मिलाकर अनरण्य को संभूत से भिन्न न मानने का पलड़ा भारी है। ऐसा जान पड़ता है कि इन वंशावलियों में जो नाम दो टुकड़ों के हैं वे बहुधा किसी वाचना में समग्र रूप में आए हैं, किसी में उनका एक खंड, किसी में दूसरा। फिर प्रमादवश वे दोनों टुकड़े दो स्वतंत्र नाम बन गए हैं। उक्त संभूत-अनरण्य, दिलीप-खट्वांग एवं रघु-दीर्घबाहु इत्यादि इसके उदाहरण हैं।
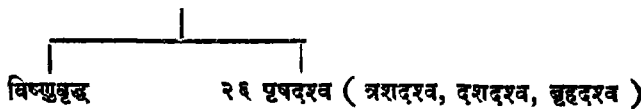
कूर्म-संदर्भ संभूति के दो पुत्र लिखता है—ज्येष्ठ विष्णुवृद्ध, कनिष्ठ अनरण्य। इनमें से विष्णुवृद्ध के वंशज क्षत्र-ब्राह्मण हो गए। अनरण्य राजपरंपरा में रहे।

संभूति का अनरण्य से एकत्व हो जाता है, अतएव विष्णुवृद्ध पृषदश्व के अग्रज ठहरते हैं।

२७ हर्यश्व + दृषद्वती

इनके बाद केवल विष्णु में हस्त नामक राजा आते हैं; किंतु अन्यत्र न मिलने के कारण तथा विष्णु में भी इनके संबंध में कोई विशेष प्रमाण न होने से इस सूची में इनका नाम सम्मिलित नहीं किया गया। हो सकता है ये हस्त इस सूची के ग्यारहवें राजा वत्सक हों, जो विष्णु में भ्रमवश स्थानांतरित होकर यहाँ पहुँच गए हों। इन दोनों नामों में किंचित् साम्य इस उपपत्ति का पोषक है। यदि ऐसा हो तो वत्सक नाम वायु-ब्रह्मांड में भी रहा होगा, क्योंकि विष्णु की वंशावली का आश्रय वहीं है।

मत्स्य-संदर्भ सत्यव्रत के बाद सत्यरथ नामक एक राजा का नाम देता है। किंतु वास्तव में यह सत्यरथा की, जो सत्यव्रत की केकय-देशजा राजमहिषी का नाम था, दुर्गति है। ब्रह्म-संदर्भ ने इस भ्रम का स्पष्ट निराकरण किया है।

भागवत ने सुदेव का नाम विजय के ऊपर दिया है, अर्थात् उसका क्रम यों है—चंप, सुदेव, विजय। इन दोनों भाइयों के नाम आने का यह कारण भी हो सकता है कि दोनों ही ने राज्य किया हो। किंतु एक मात्र भागवत के आधार पर सुदेव को राजधरों में गिनना समुचित नहीं, उन्हें वंशधर मानना ही ठीक होगा।

|
३७ रुरुक (भीरुक, कारुक, अलर्क)
|
३८ वृक

मत्स्य-संदर्भ में रोहित के बाद एकबारगी वृक का नाम आता है, इससे जान पड़ता है कि बीच के राजा (३३ से ३६ तक) अल्पकालीन एवं अल्प-पराक्रम थे।

पुराणों में सगर की रानियों के नामों तथा उनके पुत्रों के संबंध में मतभेद है। इसका पूरा विमर्श आगे सगर के प्रसंग में किया गया है। आततायीपन के कारण असमंज राज्याधिकार से च्युत कर दिए गए थे। इसी राजनैतिक घटना के कारण उनका नाम वंशावलियों में दिया गया जान पड़ता है।

|
४२ अंशुमान्
|
४३ दिलीप

ब्रह्म-संदर्भ ने इन्हीं की संज्ञा खट्वांग लिखी है, किंतु यह किसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि एक इस संदर्भ को छोड़कर 'खट्वांग' सर्वत्र द्वितीय दिलीप की संज्ञा है। दूसरे, भारत के षोडशराजिक में दिलीप-खट्वांग का पैत्र नाम ऐडविडि लिखा है। यह द्वितीय दिलीप पर ही घटित होता है, क्योंकि इडविड दिलीप के तीन शासक-पीढ़ी ऊपर पड़ते हैं।

|
४४ भगीरथ
|
४५ श्रुत (विश्रुत, श्रुतवान्)

मत्स्य-संदर्भ में यह नाम नहीं है।

कल्माषपाद के बाद छः-सात राजाओं तक वायु और कूर्म संदर्भ की सूची ब्रह्म और मत्स्य-संदर्भ की सूची से सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता का कारण है, जिसका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ वे दोनों अनुक्रम दिए जा रहे हैं—

ब्रह्म-मत्स्य संदर्भ

ब्रह्म तथा मत्स्य दोनों ही संदर्भों के अनुसार अनमित्र एवं रघु निघ्न के पुत्र थे। ये एक के बाद एक राजा हुए। ब्रह्म-संदर्भ से यह ध्वनित भी होता है कि इन्होंने अनुक्रम से राज्य किया।

५९ दुलिदुह

वायु-कूर्म संदर्भ

अश्मक

उरकाम

उरकाम के संबंध में पुराणों में जो प्रतीक है उसका पाठ गड़बड़ है। यथा—

(१) अश्मकस्योरकामस्तु मूलकस्त-त्सुतोऽभवत्।

—वायु।

(२) अश्मकस्यौरसो यस्तु मूलकस्तत्सुतो भवत्।

—ब्रह्मांड।

(३) अश्मकस्योत्कलायां तु मूलकस्तु सुतोऽभवत्।

—कूर्म।

ब्रह्म-संदर्भ के अनुसार रघु के उपरांत अनमित्र के पुत्र दुलिदुह राजा हुए। मत्स्य-संदर्भ यह नाम नहीं देता। किंतु उक्त रघु के बाद से ही इस संदर्भ की सूची गड़बड़ है, जिसका ब्योरा आगे मिलेगा। अतः दुलिदुह का नाम यहाँ रखना उचित जान पड़ता है।

संभवतः दुलिदुह वायु-कूर्म-संदर्भ के विश्वसह का ही अपरूप है, क्योंकि प्रमादवश पुराणों में कितने ही नामों के इस प्रकार अपरूप हो गए हैं। पुराणों का रूप धार्मिक हो जाने पर उसके मूल ऐतिहासिक रूप की जो उपेक्षा और फलतः क्षति एवं दुर्दशा हुई उसमें नामों का ऐसा अपरूप हो जाना एक स्वाभाविक साधारण घटना है। इसी सूची में त्रसद्दस्यु का दुस्सल और इंद्रसख का हंसमुख रूप मिलता है। इसी प्रकार इक्कीसवें राजा युवनाश्व की भार्या गौरी का विशेषण वायु और ब्रह्मांड 'अत्यन्त धार्मिका' देते हैं, जो वस्तुतः 'अतीनारात्मजा' का भ्रष्ट रूप है। वायु की दो प्रतियों में यह शुद्ध रूप मिला है तथा अन्य प्रमाणों से भी इसकी सिद्धि हुई है। जब इस प्रकार की भूलें हो सकती हैं तो विश्वसह का दुलिदुह वा मुंडिद्रुह हो जाना नितांत संभव है। इस संभावना की पुष्टि इस साम्य से और भी होती है कि ब्रह्म-संदर्भ के

(४) अश्मकस्योत्तरायां तु मूलकस्तु सुतोऽभवत्।

—लिंग।

तनिक ध्यान देने से प्रकट हो जायगा कि इनमें से वायु का पाठ मान्य है, क्योंकि ब्रह्मांड के प्रतीक का अर्थ होता है—"अश्मक का जो औरस (पुत्र) था, उसका लड़का मूलक हुआ"। वह औरस (पुत्र) कौन था? उसका नाम तो होना चाहिए। जान पड़ता है यह पंक्ति लिखते समय किसी लिपिकार का ध्यान ऊपर की उस पंक्ति की ओर चला गया जिसमें अश्मक के कल्माषपाद का क्षेत्रज होने की चर्चा है। फलतः उससे यहाँ औरस लिख गया। अतः यह पंक्ति स्पष्टतः वायुवाली पंक्ति का ही अपपाठ है।

इसी भाँति लिंग-कूर्म के पाठ में दो बार 'तु' 'तु' आ जाने से वह भी टकसाली पाठ नहीं ठहरता। श्री सीतानाथ प्रधान के शब्दों में ब्रह्मांडवाली पंक्ति वायुवाली मूल पंक्ति की प्रथम दुरवस्था है और कूर्म-लिंग वाली उसकी द्वितीय दुरवस्था। अतएव उरकाम का नाम यहाँ रखना समुचित जान पड़ता है।

मूलक
|
शतरथ (दृशरथ)

अनुसार दिलीप दुलिदुह के पुत्र थे और वायु-कूर्म के अनुसार विश्वसह के। वायु में विश्वसह को पुत्रीक का पुत्र लिखा है जो अनमित्र का विरूप हो सकता है।

|
इडविड
|
वृद्धशर्मा + पितृकन्या

इन दोनों शाखाओं में प्रधान सर्वकर्मा वाली ही है; क्योंकि वे कल्माषपाद के ज्येष्ठ एवं औरस पुत्र थे। उधर अश्मक उनके कनिष्ठ अथच क्षेत्रज पुत्र थे। किंतु इस प्रधान शाखा का स्थान दुलिदुह के बाद, जिनका समीकरण हम विश्वसह के साथ करते हैं, संभवतः अश्मक वाली शाखा ने ले लिया, क्योंकि दुलिदुह के उत्तराधिकारी दिलीप खट्वांग को महाभारत इडविड का (जो अश्मक शाखा के थे) अपत्य लिखता है।

|
५९ विश्वसह (विश्व महत्) + यशोदा
|
६० दिलीप खट्वांग + सुदक्षिणा मागधी
|
६१ रघु-दीर्घबाहु

वायु और कूर्म-संदर्भ ने दिलीप-खट्वांग और रघु के बीच में दीर्घबाहु नामक एक राजा माना है। किंतु यह दीर्घबाहु रघु की ही संज्ञा है, क्योंकि ब्रह्म-संदर्भ का स्पष्ट लेख है कि (१) दिलीप दशरथ के प्रपितामह थे एवं (२) रघु का ही नाम दीर्घबाहु भी था। 'रघुवंश' ने भी दिलीप के बाद ही रघु को रखा है और उसका प्रमाण हम पुराणों से बढ़कर मानते हैं, क्योंकि कालिदास ने जो कुछ लिखा है, बहुत प्रमाण और गवेषणापूर्वक। दूसरे, उनके समय में इस संबंध की बहुत अधिक सामग्री उपलब्ध रही होगी। संभव है मूल 'वंश' भी उन्हें प्राप्त रहे हों।

|
६२ अज + इंदुमती वैदर्भी

मत्स्य-संदर्भ में दिलीप से अज तक के नाम इस प्रकार हैं—दिलीप, अज (अजक), दीर्घबाहु, प्राजपाल (प्रजापाल, अजापाल)। किंतु किसी और संदर्भ से एवं 'रघुवंश' से इस अनुक्रम की पुष्टि न होने के कारण यह मान्य नहीं।
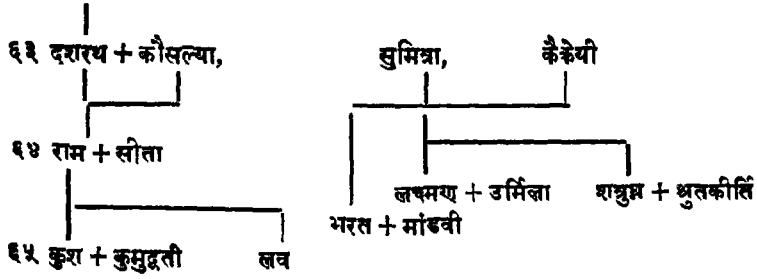
ऊपर कहा जा चुका है कि कुश की आठवीं पीढ़ी बाद के अहीनगु के उपरांत महाभारत-काल तक की ऐक्ष्वाक वंशावली के दो रूप मिलते हैं। इनमें से वायु तथा ब्रह्म-संदर्भों की वंशावली ही कुशवाली परंपरा की है। इसी से कालिदास ने भी उसी क्रम को रघुवंश में रखा है। अभी ऊपर कालिदास की प्रामाणिकता की चर्चा हो चुकी है, अतः यहाँ भी वही अनुक्रम दिया जाता है। कालिदास ने कुश से अग्निवर्ण (आगे सं० ६५) तक के ही नाम दिए हैं। इन नामों में वायु-एवं ब्रह्म-संदर्भों के नामों से उच्चारण-भेदों को छोड़कर केवल तीन में अंतर है जो हमारे निर्णय-सहित इस प्रकार हैं—

(१) वायु-संदर्भ के विष्णुपुराण में अहीनगु के उपरांत रुरु का नाम आता है। ब्रह्म-संदर्भ में उसी स्थान पर सुधन्वा का नाम है। यह रुरु वा सुधन्वा रघुवंश में नहीं हैं। किंतु यतः यह दोनों संदर्भों में प्राप्त हैं, अतएव उन्हें इस सूची में स्थान दिया गया है। विष्णु से ब्रह्म-संदर्भ अपेक्षाकृत प्रामाणिक है, सो उक्त राजा का उसी संदर्भवाला नाम, अर्थात् सुधन्वा, ग्रहण किया गया है। जान पड़ता है ये एक अप्रधान राजा थे, इसी से वायु-ब्रह्मांड एवं कालिदास इन्हें छोड़ गए हैं।

(२) संभवतः अप्रधानता के कारण ही कालिदास शिल (='भारत' के शल, वायु-ब्रह्मांड के दल; ब्रह्म-संदर्भ में यह नाम नहीं है) के बाद दल का नाम भी छोड़ गए हैं। किंतु यह नाम वायु तथा ब्रह्म संदर्भों में (वायु-ब्रह्मांड में बल, विष्णु में वत्थल, भागवत में बलस्थल एवं ब्रह्म-संदर्भ में अनल) है। साथ ही 'भारत' में भी इनका उपाख्यान है जिससे पता चलता है कि दल, शल के अनुज थे और उनके बाद राजा नियुक्त हुए थे। अतएव शिल के बाद दल का नाम नहीं छोड़ा जा सकता।

(३) पौराणिक सूची में हिरण्यनाभ-कौसल्य-वशिष्ठ वा वरिष्ठ एक नाम

तीन राजा हैं। यहाँ कालिदास का ही पक्ष ठीक है; पुराणों में भूल है, क्योंकि शतपथ (१३।५।४।४) तथा शांखायण श्रौतसूत्र (१६।६।११,१३) में हिरण्यनाभ कौसल्य नहीं, हैरण्यनाभ कौसल्य का उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि हिरण्यनाभ तथा कौसल्य एक व्यक्ति न थे, बल्कि कौसल्य हिरण्यनाभ के अपत्य थे। इसी से उपलक्षित है कि ब्रह्मिष्ठ भी एक तीसरे व्यक्ति थे। अग्निवर्ण तक के जो नाम रघुवंश में हैं उनका उसी में का रूप इस सूची में माना गया है। उनके मुख्य पौराणिक रूपांतर कोष्ठक में दिए गए हैं।

मत्स्य तक में भविष्य-वंशावली बृहद्बल से चलती है, इससे भी इस शाखा की प्रधानता प्रतिपादित होती है।

इनके बाद मत्स्य-कूर्म संदर्भों की सूची अलग होती है जिसका सर्वोत्तम रूप मत्स्य में इस प्रकार है—

|
७९ चंद्रगिरि
|
८० भानुचंद्र
|
८१ श्रुतायु

इन नामों में दोनों ही संदर्भों की किसी सूची में अंतर नहीं है। केवल लिंग में श्रुतायु का बृहद्बल से समीकरण है। यथा—

श्रुतायुरभवत् तस्मात् बृहद्बल इति श्रुतः।
..................भारते यो निपातितः॥

|
८२ शिल (शल, दल, देवल)
|
८३ दल (बल, वत्सल, बलस्थल, अनल)
|
८४ उन्नाभ (औंक, उलूक, उल्क, उक्थ)
|
८५ वज्रणाभ (अजनाभ)
|
८६ शंखन
|
८७ व्युषिताश्व (ध्युषिताश्व, युषिताश्व)
|
८८ विश्वसह (विधृति)
|
८९ हिरण्यनाभ
|
९० कौसल्य
|
९१ ब्रह्मिष्ठ (वशिष्ठ, वरिष्ठ)
|
९२ पुष्य (पुष्प)
|
९३ ध्रुवसंधि (अर्थ सिद्धि)
|
९४ सुदर्शन
|
९५ अग्निवर्ण
|

|
९७ मरु (मनु)
|
९८ प्रसुश्रुत
|
९९ सुसंधि

सुसंधि के बाद केवल विष्णु तथा भागवत में अमर्ष वा अमर्षण का नाम है, किंतु और समर्थन न मिलने के कारण वह यहाँ नहीं रखा गया।

|
१०० सहस्वान् (महस्वान्)
|
१०१ विश्रुतवान् (विश्वभव, विश्वसाह्व)

भागवत में यहाँ अनुक्रम से प्रसेनजित् तथा तक्षक के नाम आए हैं, किंतु वे अन्यत्र से प्रमाणित नहीं होते, अतः छोड़ दिए गए हैं।

|
१०२ बृहद्बल

ये बृहद्बल भारत-युद्ध में काम आए। इनके बाद भविष्य ऐक्ष्वाक वंशावली आरंभ होती है, जिसपर फिर कभी विचार किया जायगा।

गाथा-सप्तशती

उसका रचनाकाल और रचयिता

[ले० श्री मि० ला० माथुर]

गाथा-सप्तशती और हाल (शालिवाहन)

गाथा-सप्तशती महाराष्ट्रीय प्राकृत का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सात सौ मुक्तक पद्य हैं जो प्रसिद्ध 'आर्या' या 'गाथा' छंद में होने के कारण गाथा कहे जाते हैं। सप्तशती का मुख्य विषय शृंगार है और वह सात शतकों में विभाजित है। प्रत्येक शतक के उपरांत निम्नलिखित गाथा प्रायः सब प्रतियों में मिलती है—

> रसिअजणहिअअदइस कइवच्छलपमुह सुकइणिम्मविए।
> सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअम्॥ *

(इस प्रकार रसिक जनों के हृदयों को प्रिय कविवत्सल जिनका प्रमुख है उन कवियों द्वारा संकलित सप्तशतक के (अमुक) शतक का अंत होता है।)

स्पष्ट है कि सप्तशती एक संग्रह है जिसका संकलन कुछ सुकवियों ने किया जिनका प्रमुख 'कविवत्सल' विरुद वाला कोई राजा है।

प्रथम शतक की तीसरी गाथा से प्रकट होता है कि सप्तशती की ये गाथाएँ 'कोटि' (गाथाओं) में से (चयन करके) कविवत्सल हाल के द्वारा संकलित हुईं। गाथा यह है—

> सत्तसताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि।
> हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणम्॥ ३॥

इस गाथा से स्पष्ट है कि 'कविवत्सल' हाल नामक राजा का विरुद है और इसी लिये यह संग्रह हाल द्वारा विरचित भी कहा जाता है

वेबर के अनुसार सप्तशती की अब तक सात प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं और लगभग तेरह टीकाएँ की जा चुकी हैं।[1] टीकाकारों ने[2] उक्त उद्धृत गाथा में आए हुए 'हालेण' (हाल के द्वारा) पद का रूपांतर 'शालिवाहनेन', 'शालेण' और कहीं कहीं 'शालवाहनेन' भी दिया है। यह उस परंपरा की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार विद्वज्जन और टीकाकार उपलब्ध 'गाथासप्तशती' के 'संकलन-कर्ता' हाल को 'शालिवाहन' या शालवाहन नाम से भी जानते आए हैं। इसका कारण वस्तुतः यह है कि 'हाल' शब्द 'शालिवाहन' अथवा 'शालवाहन' नामों का प्राकृत रूपांतर है। इसी लिये वास्तविक नाम शालवाहन 'सालाहण' और 'हालाहण' या 'हाल' में परिवर्तित हो गया।

'गाथा-सप्तशती' की एक पुरानी प्रति में, जो रावसाहब विश्वनाथ नारायण मंडलीक महोदय द्वारा सन् १८७३ ई०[3] में प्रकाश में लाई गई थी, इस ग्रंथ का नाम 'शालिवाहन सप्तशती' ही मिला है। यह नाम इसके रचयिता की ओर संकेत करता है। इसकी पुष्टि सप्तशती की कतिपय प्रतियों में उपलब्ध इस अंतिम गाथा से भी होती है—

ऐसो कइणामंकिअ गाहापडिबद्ध वड्ढिआ मोओ।
सत्त सआओ समत्तो सालाहण विरइओ कोसो ॥[4]

१—वेबर : Das Saptasatakam des Hala, XXVIII; Indische studien XVI, p. 9.

२—दुर्गाप्रसाद शास्त्री (जयपुर) द्वारा संकलित 'गाथासप्तशती' (निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित) में इस गाथा पर टिप्पणी—पृ० २–३.

३—जर्नल ऑव् रा० ए० सो०, बाम्बे ब्रांच, जि० १०, सं० २६, पृ० १२७-१३८.

४—वेबर : Das Saptasatakam, verse 409. यह गाथा निर्णय-सागर द्वारा मुद्रित सप्तशती में पृ० २०७ की टिप्पणी में भी उद्धृत है। इसका संस्कृत रूपांतर इस प्रकार है—

एषः कविनामांकित-गाथा-प्रतिबद्धवर्धितामोद ।
सप्तशतकः समाप्तः शालिवाहनेन विरचितः कोशः ॥

भ्रम से यहाँ संस्कृत रूपांतर करते हुए टीकाकारों ने 'सातवाहनेन' पद रख दिया है। मूल गाथा में 'सालाहण' है, जिसका शुद्ध 'शालवाहन' ही है। बाद के तथा आधुनिक टीकाकारों में वास्तविक नाम 'सालाहण' (शालवाहन) और 'शाल' को बदलकर 'सातवाहन' और 'हाल' लिखने की प्रवृत्ति रही। यह ज्ञातव्य है कि 'सातवाहन', 'हाल' और 'शालवाहन'

'शालिवाहन सप्तशती' नाम वाली प्रति से ही यह भी विदित होता है कि उक्त ग्रंथ के संकलन में हाल के छः सहयोगी कवि थे—(१) बोदिस (वोदिस), (२) चुल्लुहः (३) अमरराज (४) कुमारिल (५) मकरंदसेन (६) श्रीराज। यह माना जा सकता है कि ये कवि ही वे 'सुकवि' होंगे जिनमें प्रमुख 'कविवत्सल' शालिवाहन था। 'गाथा-सप्तशती' की प्रायः सभी प्रतियों में प्रारंभ की सात गाथाएँ तो इन्हीं कवियों द्वारा रचित मिलती भी हैं। बहुत संभव है कि शालिवाहन और उसके छः सहयोगी उपर्युक्त कवियों ने सप्तशती के एक-एक शतक का संकलन किया हो।

किसी भ्रांति से यह 'गाथा-सप्तशती' शालिवाहन की होते हुए भी उस 'हाल' उपनाम वाले सालवाहन (शालिवाहन) की मानी जाने लगी जिसके नाम के साथ एक विशाल 'गाथाकोष' की प्रसिद्धि जुड़ी हुई है और जो ई० प्रथम शताब्दी में 'आंध्रभृत्य' या 'सातवाहन' वंश का प्रसिद्ध राजा था।[5]

हाल (सातवाहन, शालवाहन) और गाथाकोष

संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र प्राकृत सुभाषितों के किसी संग्रह 'गाथाकोष' का उल्लेख है। 'गाथा-सप्तशती' तो केवल सात सौ गाथाओं का संकलन है, परंतु गाथाकोष वस्तुतः एक अत्यंत बृहद् ग्रंथ रहा होगा। आगे हम उन प्रमाणों का अनुशीलन करेंगे जो गाथाकोष के संबंध में उपलब्ध हुए हैं तथा जिनसे यह निष्कर्ष निकालने का पुष्ट आधार मिलता है कि 'गाथा-सप्तशती' और 'गाथाकोष' दो भिन्न कृतियाँ हैं।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य में 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) नामक महान् कवि और उसके गाथाकोष के संबंध में अत्यंत स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। बाणभट्ट, उद्योतनसूरि, अभिनंद, राजशेखर जैसे प्रसिद्ध कवियों और लेखकों ने जिन

या 'सालाहण' दक्षिण के सातवाहन या आंध्रभृत्य वंश के एक प्रसिद्ध कवि, प्राकृत-प्रेमी और शक-संवत्सर-प्रवर्तक राजा के नाम या उपनाम हुए हैं, जिसका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी में ७८ ई० के आसपास माना जाता है। हम आगे इसका उल्लेख करेंगे।

५—अधिकांश टीकाकार एवं आधुनिक विद्वान्—जैसे श्री मिराशी, गौ० ही० ओझा, श्री जगनलाल गुप्त, डा० आर० जी० भंडारकर आदि—इसे ही सातवाहन 'हाल' द्वारा विरचित 'गाथाकोष' मानते हैं तथा इसका रचनाकाल ई० प्रथम या द्वितीय शताब्दी में निर्धारित

शब्दों में उक्त गाथाकोष की ओर संकेत किया है उनसे वह एक विशालकाय ग्रंथ ही होना चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

(१) रामचरित[६] के रचयिता अभिनंद (आठवीं-नवीं शताब्दी) ने लिखा है—

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय सम्भृतः॥ (रामचरित ६।६३)
हालेनोत्तम पूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं।
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥ (वही २२।१००)

कवि की पक्तियाँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि हाल केवल कवि ही नहीं, एक महान् राजा और कवियों का आश्रयदाता था, जिसकी राजसभा में श्रीपालित नामक राजकवि था।

(२) उद्योतनसूरि (७७८ ई० के लगभग) ने अपनी 'कुवलयमाला' में लिखा है[७]—

पालित्तय सालाहणछप्पएणय सीहनायसद्देण।
संखुद्धमुद्धसारङ्गउ व्व कइता पयंदेभि॥
निम्मल गुणेण गुण गुरुयएण परमत्थरयण सारेण।
पालित्तेयण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥
चक्काय जुवल सुहया रंमत्तण रायहंसकयहसिसा।
जस्स कुल पव्वयस्य व वियरइ गङ्गा तरङ्गमई॥
भणिय विलास वइत्तण चोक्किले जो करेइ हलिए वि।
कव्वेण किं पडत्थे हाले हाला वियारे व्व॥
पणइहिं कइयणेण य भमरेहिं वजस्य जायसणएहिं।
कमलायरो व्व कोसो विलुप्पमाणो वि हु न झीणो॥

संक्षेप में, हाल तीन पालियों (मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री) का प्रेमी और प्राकृत-कवियों का आश्रयदाता था एवं कवि-गोष्ठियों को सुशोभित करता था।

६, ७—ये श्लोक एवं गाथाएँ श्री दलाल महोदय ने स्वसंपादित राजशेखर कृत 'काव्य-मीमांसा' में भी उद्धृत की हैं। द्रष्टव्य संपादकीय टि०, पृ० १२।

उसने अपनी राजसभा के कवियों द्वारा एक ऐसा विशाल गाथाकोष निर्मित करवाया जो इतना अक्षय्य था कि कवियों द्वारा निरंतर उसका उपयोग करने पर भी वह विलुप्यमान नहीं हुआ।

(३) प्रसिद्ध कवि राजशेखर (८६०-९२० ई०) ने अपने प्राकृत नाटक 'कर्पूरमंजरी' में विदूषक द्वारा हाल को हरिचंद्र, नंदिचंद्र, कोटीश आदि प्रसिद्ध प्राकृत सुकवियों के साथ स्मरण कराया है—

उज्जुअं एव्व ता किं ण भणइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्दणंदिअन्द।
कोहिस हालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइत्ति।

इससे स्पष्ट है कि हाल प्राकृत भाषा का उच्च कोटि का कवि था।

इसी राजशेखर कवि ने अपने संस्कृत ग्रंथ सूक्तिमुक्तावलि[८] में एक सालवाहन राजा के द्वारा ग्रथित गाथाकोष के विस्तार का संकेत करते हुए लिखा है—

जगत्यां ग्रथिता गाथाः सातवाहन भूभुजा।
व्यधुः भृतेस्तु विस्तारमहो चित्रपरम्परा॥

अर्थात् जगत में राजा सातवाहन द्वारा संकलित गाथाएँ (संकलनकर्ता के) धैर्य का विस्तार बतला रही हैं। इसके विस्तार की विचित्रता पर आश्चर्य होता है। दूसरे चरण के शब्दों में स्पष्ट संकेत है कि राजा सातवाहन का गाथा-संग्रह इतना विशाल था कि उसके संग्रहकर्ता का धैर्य उस ग्रंथ के विस्तार के कारण ही प्रशंसनीय है जिसको देखकर अत्यंत आश्चर्य होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्राचीन कोषकारों[९] ने 'हाल', 'शाल', 'शालवाहन' और सालवाहन को पर्याय के रूप में माना है। इसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्योतन सरि ने 'हाल' के जिस गाथाकोष

८—द्रष्टव्य—श्री सी० डी० दलाल द्वारा संपादित 'काव्यमीमांसा', संपादकीय टिप्पणियाँ, पृ० १२; श्री भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास, आंध्रभृत्य-वंश-विवरण। यह श्लोक प्रसिद्ध है तथा निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित 'गाथासप्तशती' की भूमिका में भी उद्धृत है।

९—हेमचंद्र, अभिधान-रत्नमाला; देसीनाममाला, वर्ग ८, गाथा ६१—'हालो-सातवाहनः' वा 'सालाहणम्मि हालो'; अमरकोष (क्षीर-कृत)—'हालः सातवाहनः ——— ...'।

का वर्णन किया है वह, और राजशेखर द्वारा उल्लिखित सातवाहन द्वारा ग्रथित गाथा-संग्रह, वस्तुतः एक ही होंगे।

इसी राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा[१०] में भी राजचर्या-प्रसंग में राजा सालवाहन और उसकी कविगोष्ठियों तथा उसके कवियों और विद्वानों को पुरस्कृत करने का उल्लेख किया है। उद्योतन सूरि ने ठीक यही वर्णन हाल (शालिवाहन) का भी दिया है, जिससे सिद्ध होता है कि 'हाल' शालिवाहन और 'सातवाहन' एक ही राजा के नामांतर हैं।

(४) संस्कृत के प्रख्यात लेखक बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी) ने अपने 'हर्षचरित' के प्रारंभिक अंश में इसी सातवाहन राजा द्वारा विरचित सुभाषितरत्नों के एक कोष की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषरत्नैरिव सुभाषितैः॥

सातवाहन ने विशुद्ध जाति के रत्नों के सदृश सुभाषितों से अविनाशी और अग्राम्य कोष बनाया।

सातवाहन राजा ने उक्त विशालकाय ग्रंथ द्वारा इतनी कीर्ति अर्जित की थी कि उसकी उक्त कवियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यहाँ तक कि परवर्ती कविगण विशाल कृतियों और उनके रचयिताओं की उपमा 'शालवाहन' (सातवाहन) और उसके उक्त गाथाकोष से देने लगे। उदाहरणार्थ, एक प्राचीन गाथा में रविषेण नामक कवि को 'पद्मचरित' नामक बृहद् काव्य की रचना करने के कारण ही सालाहण (शालवाहन) कहा गया है। गाथा इस प्रकार है[११]—

जेहि कए रमणिज्जे वरंग पउमाण चरियवित्थारे।
कह व न साला हणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो॥

हेमचंद्र (१०८८–११७२) मेरुतुंग, जिनप्रभसूरि आदि परवर्ती काल के जैन लेखकों ने अपने ग्रंथों में सालवाहन और उसके गाथाकोष के संबंध में अत्यंत स्पष्ट और विशद सूचनाएँ दी हैं—

१०—तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत्परीक्षेत् च। वासुदेव-सातवाहन-शूद्रक-साहसाङ्कादीन्सकलसभापतीन्दानमानाभ्यां कुर्यात्।

—काव्यमीमांसा, पृ० ५५

११—वही; सं० टि०, पृ० १३

(१) प्रसिद्ध कोषकार हेमचंद्र चार विद्वान् राजाओं—विक्रमादित्य, शालिवाहन, मुंज और भोज—के नाम गिनाते हुए शालिवाहन को 'हाल' या 'सातवाहन' भी लिखता है।[११]

(२) जिनप्रभसूरि (चौदहवीं शताब्दी) ने अपने 'कल्पप्रदीप' में जैनों के तीर्थों का वर्णन करते हुए प्रतिष्ठान (या पैठन) नामक नगर का वर्णन किया है जहाँ के राजा सातवाहन के अनुरोध पर कपिल, आत्रेय, बृहस्पति और पांचाल ने चतुर्लक्ष श्लोकों के ग्रंथ का सार एक श्लोक[१२] में इस प्रकार दिया—

जीर्णे भोजनमात्रेयः कपिलः प्राणिनो दया।
बृहस्पतिरविश्वासः पांचालः स्त्रीषु मार्दवं॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल आदि ये चार नाम प्रतीक रूप हैं, क्योंकि ये लेखक क्रमशः दर्शन, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र और कामसूत्र के प्रसिद्ध रचयिता हो चुके हैं और ये ही, संभवतः, गाथाकोष के एक-एक लाख गाथाओंवाले चार भागों के विषय भी थे। यह चार लाख श्लोकों का ग्रंथ 'गाथाकोष' ही हो सकता है।

(३) मेरुतुंग ने 'प्रबंधचिंतामणि'[१३] में सातवाहन और गाथाकोष के विषय में लिखा है—

स श्रीसातवाहनस्तं पूर्वभववृत्तान्तं जातिस्मृत्या साक्षात्कृत्य ततः प्रभृति दानधर्ममाराधयन् सर्वेषां महाकवीनां विदुषां च संग्रहपरः चतसृभिः स्वर्णकोटिभिः गाथाचतुष्टय क्रीत्वा सप्तशती-गाथाप्रमाणं सातवाहनाभिधानं संग्रहगाथाकोषं शास्त्रं निर्माप्य नानावदातनिधिः सुचिरं राज्यं चकार।

११—ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो०, जि० १०, पृ० १३१, 'शालिवाहन और शालिवाहन सप्तशती' लेख।

१२—सिंघी-जैन-ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित 'विविध-तीर्थ-कल्प' प्रतिष्ठान-पत्तन-कल्पः, पृ० ४७। श्लोक इस प्रकार हैं—

कपिलात्रेय-बृहस्पति-पंचाला इह महीभृदुपरोधात्।
न्यस्तस्वचतुर्लक्षग्रंथार्थश्लोकमेकमप्रथयन्॥ ७॥
स चायं श्लोकः।
जीर्णे भोजनमात्रेयः··········स्त्रीषु मार्दवं॥ ८॥

इससे विदित होता है कि सातवाहन ने चार लाख स्वर्णमुद्राओं से 'गाथा-चतुष्टय' क्रय करके 'सप्तशती-गाथा-प्रमाण' सातवाहन नाम से संग्रह-गाथाकोष शास्त्र निर्माण करवाया और चिरकाल तक राज्य किया।

मेरुतुंग के इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि गाथाकोष में चार लाख गाथाओं का संकलन होने की बात शताब्दियों तक परंपरागत रूप से विदित थी और उसके निर्माण में राजा सातवाहन को कवियों को विपुल धन देना पड़ा। जिन-प्रभ सूरि का यह कथन कि गाथाकोष चार भागों में विभक्त था और उसमें चार लाख गाथाएँ थीं, मेरुतुंग के उक्त उद्धरण से भी पुष्ट होता है। जान पड़ता है चार संग्रहों में संकलित होने के कारण ही गाथाओं के इन संग्रहों को मेरुतुंग ने 'गाथा-चतुष्टय' कहा। इसका अर्थ केवल 'चार गाथा' लगाना तो हास्यास्पद होगा, क्योंकि केवल चार गाथाओं के लिये तो इतना प्रचुर धन नहीं व्यय किया जाता। मेरुतुंग ने स्वयं यह बताते हुए कि वे गाथाएँ किस कोटि की थीं, उस गाथाचतुष्टय की आठ गाथाएँ[१४] उद्धृत की हैं और दो अन्य गाथाओं[१५] द्वारा यह संकेत किया है कि इन आठ गाथाओं में से प्रथम चार गाथाओं जैसी दस कोटि और दूसरी चार जैसी नव कोटि गाथाएँ शालिवाहन ने ग्रथित कीं। दस कोटि और

१४—ये गाथाएँ मुद्रित प्रबंधचिंतामणि के पृ० ११ पर दी हुई हैं। इन आठ में से केवल दो गाथाएँ (७।६१ और ७।६६) ही मुद्रित गाथासप्तशती में मिलती हैं। शेष का संकलन संभवतः सप्तशती में नहीं किया गया।

१५—हारो वेणीदण्डो खड्डुग्गलियाइं तह य तालुत्ति।
एयाइं नवरि सालाहणेण दह कोडिगहियाइं ॥ १ ॥

तथा—
कयलितरु विज्झगिरी नेहाहारो य चन्दणदुमोय।
एयाओ नवरि सालाहणेण नव कोडि गहियाओ ॥ १० ॥

यह ज्ञातव्य है कि प्रथम चार गाथाओं में प्रत्येक में क्रमशः 'हार' 'वेणीदण्डो', 'खड्डुग्गलियाइं' और 'तालु' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार दूसरी चार गाथाओं में 'कदलितरु', 'विन्ध्यगिरि', 'नेहाहारो' और 'चन्दनद्रुम' शब्द भी क्रमशः प्रत्येक में मिलते हैं तथा साहित्यिक उक्ति के वे विषय भी हैं। इस प्रकार श्लोक या गाथा के एक मुख्य शब्द को उपर्युक्त गाथाओं में प्रतिनिधि रूप से उस 'गाथा' को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया है।

नव कोटि संख्याएँ अत्युक्ति हों तो भी यह अनुमान किया जा सकता है कि गाथा-कोष में करोड़ों नहीं, तो लाखों गाथाएँ अवश्य रही होंगी।

(४) राजशेखर सूरि[१६] (१३४८ ई०) नामक जैन लेखक ने अपने 'चतुर्विंशति प्रबंध' में स्पष्ट लिखा है कि शालिवाहन या सातवाहन ने कवियों और पंडितों की सहायता से चार लाख प्राकृत गाथाएँ विरचित करवाकर उसे 'कोष' का नाम दिया। इससे भी गाथाकोष की विशालता ही प्रमाणित होती है, जिसके आधार पर बाण, राजशेखर, उद्योतन सूरि जैसे प्रख्यात लेखकों को भी उसके संबंध में अत्यंत प्रशंसात्मक उक्तियाँ कहनी पड़ीं।

शालिवाहन की ७०० गाथाओंवाली 'गाथा-सप्तशती' और सातवाहन (शालवाहन या हाल) द्वारा विपुल द्रव्य व्यय करके विरचित चार लाख गाथाओं के विशाल गाथाकोष के संबंध में जो सूचनाएँ ऊपर दी गई हैं उनके समुचित अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दोनों ग्रंथ और इनके संकलनकर्ता या रचयिता एक-दूसरे से बहुत भिन्न और पृथक् हैं। परंतु दोनों के नाम-साम्य से बड़ी भ्रांति हो सकती है और इसके संबंध में यही हुआ भी है।

चार लाख गाथाओं के जिस कोष का उल्लेख भिन्न-भिन्न शताब्दियों के कवि और लेखक अपने ग्रंथों में करते आए हैं, दुर्भाग्य से उसकी कोई प्रति अब तक उपलब्ध नहीं है। उसके अभाव में उपर्युक्त 'गाथा-सप्तशती' नाम से प्रसिद्ध अपेक्षाकृत अत्यंत लघु गाथा-संग्रह को ही उसके टीकाकार और प्राचीन लेखक तक सातवाहन का विशाल गाथाकोष मानते रहे, फिर साधारण लिपिकारों की तो बात ही क्या? कृति के स्वरूप और कर्ता के नाम इत्यादि में विचित्र साम्य होने के कारण, अनजान में या असावधानी से, यह भूल शताब्दियों तक चलती रहने के कारण परंपरागत-सी हो गई। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भी 'गाथा-सप्तशती' के टीकाकारों तथा अन्य प्राचीन इतिहास के विद्वानों को भी यही भ्रांति रही है।

'गाथा-सप्तशती' को सातवाहन का गाथाकोष मान लेने से कई प्रकार की ऐतिहासिक उलझनें उत्पन्न हो गई हैं; जैसे—

(१) गाथा-सप्तशती को परवर्ती युग की रचना न मानकर सातवाहन के आनुमानिक समय, ई० प्रथम शताब्दी, की रचना मान लिया गया और तदनुसार—

१६—ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो० जि० १० पृ० १३५

(२) गाथा-सप्तशती में वर्णित या उल्लिखित कई देवी-देवताओं, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्तियों, रीति-रिवाजों और रहन-सहन के ढंग या घटनाओं को भी ई० सन् के प्रारंभिक वर्षों का बताया जाने लगा, जिससे कई असत्य और असंभव कल्पनाएं तक करनी पड़ीं।

'गाथा-सप्तशती' की उपलब्ध प्रतियों के अंत:परीक्षण के आधार पर कई विद्वानों ने उसके प्रथम शताब्दी की रचना माने जाने में संदेह तो अवश्य किया है, परंतु प्राय: विद्वानों की धारणा अब भी यही है कि 'गाथा-सप्तशती' ही 'गाथाकोष' है तथा इसका रचयिता शालिवाहन प्रथम शताब्दी का प्रसिद्ध राजा हाल-सातवाहन ही है। 'गाथा-सप्तशती' के विषय में निम्नलिखित विद्वानों ने शंकाएँ प्रस्तुत की हैं—

(अ) डाक्टर कीथ सप्तशती की गाथाओं में व्यंजनों की कोमलता के आधार पर उसका समय ई० २०० और ४५० के बीच में निर्धारित करते हैं।[१७]

(आ) वेबर भी कई कारणों से सप्तशती का समय तीसरी और सातवीं शताब्दी के बीच बताते हैं।[१८]

(इ) डा० डी० आर० भंडारकर सप्तशती के अंतःसाक्ष्य (यथा राधाकृष्ण, मंगलवार, विक्रमादित्य आदि के उल्लेख) के आधार पर उसे प्रथम शताब्दी की रचना न मानकर छठी शताब्दी के प्रारंभ की बताते हैं।[१९]

(ई) इनके विपरीत श्री वी० वी० मिराशी गाथा-सप्तशती और गाथाकोष को एक ही मानते हुए कहते हैं कि मूलतः उसका संकलन प्रथम शताब्दी में हाल सातवाहन के द्वारा हुआ था, परंतु मुक्तक गाथाओं का संग्रह होने के कारण उसमें आठवीं शताब्दी तक प्रक्षिप्त गाथाएँ भी जुड़ती रहीं और मूल गाथाएँ बदलती और हटाई जाती रहीं।[२०] परंतु श्री मिराशी ने इस बात का कोई विशेष कारण नहीं बताया कि 'गाथासप्तशती' को ही क्यों गाथाकोष मानना चाहिए। केवल परवर्ती

१७—डा० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २२४

१८—वेबर, Das Saptasatakam des Hala (1881), Introduction, p. XXII.

१९—आर० जो० भंडारकर स्मारक ग्रंथ, डा० डी० आर० भंडारकर का विक्रम संवत् पर लेख, पृ० १८६

२०—इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, दिसंबर १९४७, जि० २३, पृ० ३००-१०

टीकाकारों द्वारा इसके लिये 'कोष' शब्द का प्रयोग कर देना अथवा इसमें 'हाल' या 'पालित' की भी गाथाओं का समावेश होना ही इन दो कृतियों का एक होना सिद्ध नहीं कर सकते।

कुछ भी हो, विद्वानों में 'गाथा-सप्तशती' के रचनाकाल के संबंध में तीव्र मतभेद अवश्य है। इस संबंध में प्रस्तुत लेखक ने कई प्राचीन कृतियों में अंतर्निहित प्रकरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि न केवल गाथा-सप्तशती का रचनाकाल प्रथम शताब्दी है, अपितु उसका कर्ता भी वह हाल सातवाहन नहीं हो सकता जो प्रथम शताब्दी में दक्षिणापथ के प्रतिष्ठानपुर में प्रतिष्ठित सातवाहन या आंध्रभृत्य वंश का एक प्रसिद्ध राजा हुआ है और जिसकी प्रसिद्धि 'गाथाकोष' के कर्ता के रूप में है। खेद का विषय है कि जो विद्वान् उपलब्ध 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' मानते हैं उन्होंने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया कि उस गाथाकोष के संबंध में जितने भी प्राचीन कवियों और लेखकों ने उल्लेख किया है वे सब उसे कोटि या लाख गाथाओं का संग्रह कहते हैं अथवा उसका ऐसे शब्दों में वर्णन करते हैं जिससे उसके एक अत्यंत विशालकाय महाग्रंथ होने की कल्पना होती है। 'गाथा-सप्तशती' को ही गाथाकोष मानते समय इस संख्या या परिमाण की बात को वे बिलकुल भूल जाते हैं।

परंतु केवल परिमाण के आधार पर ही हम यह कहने का साहस नहीं कर रहे हैं कि 'गाथाकोष' और 'गाथा-सप्तशती' एक नहीं हो सकते; हम यह भी बताने का प्रयत्न करेंगे कि सप्तशती का रचयिता वह सातवाहन नहीं हो सकता जो 'गाथाकोष' का रचयिता माना जाता है।

भिन्न-भिन्न प्राचीन लेखकों की कृतियों में गाथाकोषकार सातवाहन के जो वर्णन उपलब्ध हैं उनसे उसके प्रतापी व्यक्तित्व, दानशीलता, धार्मिक आचरण तथा काव्य और साहित्य के संरक्षक होने की जो धारणा और कल्पना बनती है वह उससे नितांत भिन्न और कुछ अंशों में विपरीत भी है जो हमें 'गाथा-सप्तशती वाले 'हाल' के विषय में स्वयं उस ग्रंथ से होती है। हम नीचे विस्तार से दोनों का तुलनात्मक विवरण देते हुए अपने इस कथन की पुष्टि करेंगे।

(१) 'गाथा-सप्तशती' का हाल (शालवाहन) शैव है, किंतु 'गाथा-

'गाथा-सप्तशती' की मंगलाचरण वाली गाथा में रचयिता ने पशुपति शिव और गौरी की वंदना की है जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'गाथा-सप्तशती' का रचयिता शैव है। वह गाथा इस प्रकार है—

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दम्।
गहिअग्घपङ्कअं विअ संझासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥
[पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रांत गौरीमुखचंद्रं।
गृहीतार्घपङ्कजमिव संध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥]

इसके विपरीत गाथाकोषकार 'हाल' (शालवाहन या सातवाहन) एक जैन राजा ज्ञात होता है, क्योंकि प्रायः सभी प्रसिद्ध जैन लेखकों ने इसके नाम से प्रबंध लिखे हैं और उसे जैन मत का संरक्षक और अनुयायी बताया है। शत्रुंजय आदि अनेक जैन तीर्थों के पुनर्निर्माता होने के नाते भी सातवाहन का नाम उनके ग्रंथों में उल्लिखित पाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि 'गाथा-सप्तशती' का 'हाल' (शालिवाहन) और 'गाथाकोष' का संग्रहकर्ता 'हाल' एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते।

(२) 'गाथा-सप्तशती' का हाल एक विलासी रुचि का व्यक्ति है, किंतु गाथाकोष का 'हाल' (सातवाहन) धार्मिक और लोक-हितकारी वृत्ति वाला राजा है।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य में आए हुए प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि 'गाथाकोष' का संकलनकर्ता 'हाल' सातवाहन एक पराक्रमी, विद्याप्रेमी, दानी और धर्मात्मा राजा था। उसकी तुलना कोषकारों एवं प्राचीन कवियों ने प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य, भोज और मुंज आदि से की है, क्योंकि वह भी इन्हीं की भाँति दानशील, काव्य और कवियों का संरक्षक तथा विजेता था। इसी सातवाहन की प्रशंसा में बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में उसे 'त्रिसमुद्राधिपति' के नाम से स्मरण किया है और यह भी सूचित किया है कि यह दक्षिणापथ का सम्राट् सातवाहन नागार्जुन का समकालीन था। निस्संदेह यह सातवाहन जिसका वर्णन जैन-ग्रंथों में मिलता है, गाथाकोषकार सातवाहन ही है, क्योंकि हेमचंद्र अपने प्रबंधकोष तथा मेरुतुंग अपने 'प्रबंध-चिंतामणि' ग्रंथ में कोषकार सातवाहन को नागार्जुन का शिष्य लिखते हैं।

यद्यपि 'गाथा-सप्तशती' का रचयिता 'हाल' (शालिवाहन) भी प्राकृत कविता का प्रेमी एवं कवियों का आश्रयदाता है, परंतु वह विषयी और विलासी राजा विदित होता है और मुख्यतः शृंगारिक (सो भी चरम विलासिता के भावों से पूर्ण) कविता का प्रेमी है। उसकी रुचि के अनुसार बनी 'गाथा-सप्तसती' इसी प्रकार की गाथाओं से भरी पड़ी है। यह स्मरणीय है कि विद्वानों ने बिहारी के कई दोहों को गाथा-सप्तशती की गाथाओं की छाया बताया है। इस प्रकार दोनों 'हाल' उनके चारित्रिक स्वरूप और उनकी धार्मिक मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही व्यक्ति कदापि नहीं हो सकते।

'गाथा-सप्तशती' का रचना-काल

अब तक सभी विद्वानों का यह मत है कि 'हाल' सातवाहन ई० प्रथम शताब्दी का राजा है, अतः उसके 'गाथाकोष' का रचना-काल भी प्रथम शताब्दी ही होना चाहिए। जैसा कि प्रारंभ में उल्लेख किया जा चुका है, भ्रांति से प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' का पर्याय मान लिया है; परंतु 'गाथा-सप्तशती' को अंतःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों के आधार पर प्रथम शताब्दी की रचना मानना भूल है। पहले हम बहिःसाक्ष्य का अनुशीलन करेंगे।

(१) बाणभट्ट, उद्योतनसूरि, अभिनंद, राजशेखर तथा परवर्ती जैन लेखकों ने जहाँ-जहाँ सातवाहन (हाल, शालवाहन) के गाथाकोष का उल्लेख या संकेत किया है, वहाँ उन्होंने 'गाथा-सप्तशती' नाम का उल्लेख नहीं किया। यह तो पहले हम बतला चुके हैं कि उन सबने उक्त गाथाकोष को लाखों और करोड़ों गाथाओं का बृहद् संग्रह बताया है, जिसका उपयोग शताब्दियों से कविगण करते रहे हैं, परंतु सात सौ गाथाओं या सात शतकों की बात किसी ने नहीं कही। इससे यह सिद्ध होता है कि ७०० गाथाओं का 'गाथा-सप्तशती' नाम का संग्रह उनके समय में विद्यमान ही नहीं था। वह एक परवर्ती ग्रंथ ही विदित होता है।

उपर्युक्त लेखकों में से बाण सातवीं, उद्योतनसूरि आठवीं, अभिनंद नवीं तथा राजशेखर दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए हैं। इनके द्वारा 'गाथा-सप्तशती' का उल्लेख न होना इस बात का सूचक है कि 'हाल' या 'सातवाहन' विरचित 'गाथा-सप्तशती' के नाम से ये एकदम अपरिचित थे। कम से कम दसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक इसका अस्तित्व विदित नहीं होता।

अन्य जिन परवर्ती लेखकों ने सातवाहन और उसके गाथाकोष का उल्लेख किया है वे हेमचंद्र, जिनप्रभसूरि, मेरुतुंग और राजशेखर सूरि हैं। इनमें भी हेमचंद्र (ग्यारहवीं), जिनप्रभसूरि (चौदहवीं) और राजशेखर सूरि (पंद्रहवीं) आदि भिन्न-भिन्न शताब्दियों के लेखकों ने अपने अपने ग्रंथों में गाथाकोष का ही उल्लेख किया है, 'गाथासप्तशती' के विषय में वे सर्वथा मौन हैं। केवल मेरुतुंग ही, जो चौदहवीं शताब्दी का लेखक है, 'गाथा-सप्तशती' का पहली बार उल्लेख करता है और वह भ्रांतिवश इसे ही चार गाथा-ग्रंथों में (गाथा-चतुष्टय) से विरचित सातवाहन-संग्रह या कोष भी मान लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि मेरुतुंग के समय तक 'गाथा-सप्तशती' रची जाकर प्रसिद्ध भी हो चुकी थी। संभवतः सातवाहन के बृहद् गाथाकोष का उस समय तक लोप होने के कारण मेरुतुंग ने इसे ही गाथाकोष मान लेने की भूल कर डाली और यही भूल आगे चलती रही। इस प्रकार वह निराधार परंपरा चल पड़ी जिससे गाथाकोषकार 'हाल' को ही 'गाथा-सप्तशती' का भी रचयिता मान लिया गया तथा उसी के शासन-काल में अर्थात् प्रथम शताब्दी में सप्तशती का रचना-काल भी माना जाने लगा। मेरुतुंग तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का लेखक है, अतः उसके पूर्वकालीन अन्य जैन तथा जैनेतर लेखकों के कथन की उपेक्षा करते हुए उसका यह कथन सत्य मानना कि 'गाथा-सप्तशती' ही सातवाहन राजा का संगृहीत गाथाकोष है, ऐतिहासिक अनुसंधान-तत्त्वों के सर्वथा विपरीत पड़ता है। मेरुतुंग के उपर्युक्त उदाहरण से स्वयं 'गाथा-चतुष्टय' और 'गाथासप्तशती' की भिन्नता स्पष्ट विदित होती है। मेरुतुंग के द्वारा ही 'गाथासप्तशती' का उल्लेख तो सिद्ध करता है कि यह ग्रंथ उसके समय से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ही बना होगा तथा शनैः-शनैः उसके समय तक अर्थात् चौदहवीं शती तक विख्यात होकर सर्वसाधारण में बड़े चाव से पढ़ा जाने लगा होगा।

(२) हमारा यह मत कि 'गाथासप्तशती' की रचना परवर्ती काल की ही हो सकती है, इस बात से भी पुष्ट होता है कि मुक्तक पद्यों का सात शतकों में संग्रह कर सप्तशती बनाने की रीति की परंपरा भी संस्कृत और प्राकृत साहित्य में अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होती। यदि गाथासप्तशती ही सातवाहन का गाथाकोष हो—और गाथाकोष की ख्याति कवियों और विद्वानों में इतनी अधिक थी—तो गाथाकोष के रचनाकाल (अर्थात् प्रथम या दूसरी शताब्दी) के अनंतर ऐसे ग्रंथ के अनुकरण पर इतनी शताब्दियों में अवश्य ही अन्य कवियों द्वारा भी सप्तशतियाँ

लिखी जानी चाहिए थीं—विशेषतया जब कि इस काल में हिंदू या भारतीय प्रतिभा अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर थी तथा साहित्य में अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। अभी तक जो खोज हुई है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी तक 'गाथासप्तशती' के अतिरिक्त अन्य कोई सप्तशती संस्कृत और प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं है और न ऐसी दूसरी सप्तशती का कहीं उल्लेख ही हुआ है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि सप्तशती लिखने की शैली या प्रणाली ही उतनी अतीत-कालीन नहीं है। हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि 'गाथा-सप्तशती' की ही शैली पर बनी जो दूसरी सप्तशती उपलब्ध होती है वह राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि गोवर्धन द्वारा रचित 'आर्या-सप्तशती' है। इसका विषय भी शालिवाहन-सप्तशती की भाँति केवल शृंगार ही है। गोवर्धनाचार्य का समय निश्चित रूप से ई० सन् की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इन धारणाओं के आधार पर 'गाथा-सप्तशती' का रचना-काल प्रथम शताब्दी में न होकर दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित होता है। 'आर्या-सप्तशती' में 'गाथासप्तशती' की अनेक गाथाओं का स्पष्ट अनुकरण किया जान पड़ता है।[२१]

(३) 'गाथा-सप्तशती' प्रथम शताब्दी की रचना नहीं हो सकती, इसका एक और स्पष्ट प्रमाण हमें अंतःसाक्ष्य से भी मिलता है। प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। उत्तरापथ ही नहीं, दक्षिणापथ और देशदेशांतर तक सम्राट् अशोक के राज्यकाल से ही बौद्ध धर्म का प्रसार हो चुका था। उस समय जनता में बौद्ध धर्म के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था, अनादर और घृणा का नहीं। देश की अधिकांश जनता बौद्ध धर्म अंगीकार भी कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में यह सहज कल्पना की जा सकती है कि ऐसे किसी संग्रह-ग्रंथ में जो बौद्ध धर्म के चरम-उत्कर्ष-काल में विरचित हुआ हो, यदि बौद्धों का कोई उल्लेख हो तो वह सम्मान का सूचक होगा, घृणा का व्यंजक नहीं। परंतु 'गाथासप्तशती' में बौद्ध धर्म के संबंध में केवल एक ही गाथा है और उसमें बौद्ध भिक्षुओं का घृणास्पद उल्लेख हुआ है।[२२] यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस 'गाथासप्तशती' की

२१—द्रष्टव्य मथुरानाथ शास्त्री द्वारा संपादित 'गाथासप्तशती' की भूमिका।

२२—[illegible]

गाथाओं[२३] में राधा, कृष्ण, गणेश, वामन, हर, गौरी, लक्ष्मीनारायण, कालिका, सरस्वती आदि देवी-देवताओं के अनेक उल्लेख हैं उसमें बौद्धमत-संबंधी कोई उल्लेख नहीं है, और जो है भी वह उसके प्रति अपमान-सूचक।

यहाँ यह कहना भी समीचीन जान पड़ता है कि जिन देवी-देवताओं का उल्लेख सप्तशती में आता है वे सब पौराणिक हिंदू देवी-देवता हैं। यह इस बात का संकेत है कि 'गाथा सप्तशती' की गाथाएँ उस समय की होनी चाहिएँ जब बौद्धधर्म का लोप हो चुका हो और हिंदू या पौराणिक धर्म का देश में प्रचार हो रहा हो। बौद्धधर्म के ह्रास के अनंतर हिंदू (पौराणिक) धर्म का उत्थान गुप्तकाल में हुआ, यह इतिहास-सिद्ध है। इस दृष्टि से भी सप्तशती का समय गुप्तकाल अथवा उसकी परवर्ती शताब्दियों में होना चाहिए, जब कि देश छोटे छोटे स्वतंत्र राजपूत राज्यों में विभक्त था, जैसा सप्तशती की गाथाओं से भी प्रकट होता है।[२४]

(४) गाथासप्तशती के कविगण अधिकांश उत्तर शताब्दियों के हैं।

सप्तशती की सब उपलब्ध प्रतियों में संपूर्ण ७०० गाथाएँ एक-समान नहीं मिलतीं। केवल ४३० गाथाएँ इन सबमें समान हैं, शेष भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न रूप में संकलित है।[२५] इन गाथाओं के साथ प्रायः उनके रचयिता कवियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है। सप्तशती की उपलब्ध प्रतियों में इन कवियों के नाम भी अधिकांश लुप्त हो गए है और केवल भुवनपालकृत टीका में सबसे अधिक नाम पाए जाते हैं, जिनकी संख्या ३८४ है। इस प्राचीनतम टीका में तथा अन्य तालपत्र पर लिखित[२६] प्रतियों में भी लगभग उन सभी कवियों की गाथाएँ और

२३—द्रष्ट० गाथा सं० ६६, ४५५, ६१, ११४, १८६, १५१, ७००, ४४८, ४६६ इत्यादि।

२४—श्री मथुरानाथ भट्ट शास्त्री की गाथासप्तशती की भूमिका।

२५—वेबर, Das Saptasatakam, p. XXVIII; Indische-Studien XVI., p. 9 f; वी० वी० मिराशी, The date of Gatha Saptasati (इं० हि० क्वा०, दिसंबर ४७)

२६—द्रष्ट० श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित 'गाथासप्तशती' की भूमिका। बंगाल से प्राप्त सप्तशती की तालपत्र पर लिखित एक प्राचीन प्रति में ४३१ गाथाएँ हैं। यह प्रति अपूर्ण है। किंतु ये ४३१ गाथाएँ मुद्रित सप्तशती में भी सं० १ से ४३१ तक तो वही हैं और प्रायः सभी प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं।

नाम पाए जाते हैं जो निर्णयसागर द्वारा मुद्रित सप्तशती में भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि अनुक्रमणिका[२७] पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही विदित हो जाता है, एक कवि की एक से अधिक गाथाओं का संकलन इस ग्रंथ में हुआ है; अतः बाद में गाथाओं के बदलते रहने पर भी प्रत्येक कवि की एक न एक गाथा तो उन ४३० गाथाओं में भी मिल जाती है जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं और जिन्हें विद्वानों के मतानुसार मूल गाथासप्तशती का अवशेष माना जाता है तथा शेष (३७०) गाथाओं को प्रक्षिप्त। सप्तशती के कवियों के नामों की सूची का अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि इनमें से अधिकांश तो ऐसे हैं जो निश्चित रूप से प्रथम शताब्दी के बाद के हैं। जो विद्वान् 'गाथासप्तशती' को ही 'गाथाकोष' मानकर इसका रचना-काल भी ई० प्रथम शताब्दी में समझते हैं वे इन परवर्ती कवियों की गाथाओं को बाद में जोड़ी हुई अर्थात् प्रक्षिप्त बताकर मूल सप्तशती में उनके विद्यमान होने में शंका करते हैं। परंतु उन्होंने इस बात की ओर संभवतः ध्यान नहीं दिया कि इन प्रक्षिप्त कही जानेवाली गाथाओं के कवियों की अन्य गाथाएँ मूल 'गाथासप्तशती' की अवशिष्ट ४३० गाथाओं में भी मिलती हैं, अतः इन परवर्ती कवियों की प्रत्येक गाथा को या नाम को बाद में जोड़ा हुआ नहीं माना जा सकता। वस्तुतः सब प्रतियों में समान रूप से मिलनेवाली ४३० गाथाओं के कवियों की सूची में शेष ३७० गाथाओं के रचयिता कवियों के नाम भी आ जाते हैं। इससे स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि मूल सप्तशती में इन सभी कवियों की गाथाएँ प्रारंभ से ही संगृहीत की हुई थीं और उन कवियों तथा उनकी गाथाओं को बाद में सम्मिलित किया हुआ नहीं कहा जा सकता। इस आधार पर यह मानना पड़ेगा कि सप्तशती का रचनाकाल इन कवियों में से सबसे परवर्ती या उत्तरकालीन कवि के समय के पश्चात् या आसपास ही था। यहाँ हम कतिपय ऐसे कवियों की तिथि आदि का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिनकी गाथाएँ सप्तशती में स्थान-स्थान पर बिखरी हुई मिलती हैं तथा जिनकी एक न एक गाथा मूल सप्तशती में भी विद्यमान है—

(१) **प्रवरसेन**—निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित गाथासप्तशती में ४५, ६४, २०२, २०८ और २१६ संख्यक गाथाएँ प्रवरसेन की रची बताई गई हैं।

२७—द्रष्ट० निर्णयसागर द्वारा मुद्रित 'सप्तशती' तथा Indische studien,

पीतांबर की टीका में गाथा ४८१ और ५६५ को भी इन्हीं की बताया है। भुवनपाल ने प्रवर, प्रवरराज या प्रवरसेन को गाथा ४६, १२६, १५८, २०३, २०६, ३२१, ३४१, ५०६, ५६७ और ७२६ का भी रचयिता लिखा है। इस प्रवरसेन को प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' या 'रावण-वध' का रचयिता मानना चाहिए। 'सेतुबंध' का उल्लेख बाण, दंडी और आनंदवर्द्धन ने अपनी-अपनी रचनाओं में किया है, अतः प्रवरसेन का समय सातवीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। अधिकांश विद्वान् इसे वाकाटक-वंश का द्वितीय प्रवरसेन घोषित करते हैं, जिसका समय ४२०-५० ई० है। इसी नाम का एक राजा काश्मीर में भी हुआ, जिसका समय कनिंघम के अनुसार ४३२ ई० है।

(२) **सर्वसेन**—पीतांबर की टीका में सं० ५०२, ५०३ की गाथाएँ सर्वसेन के नाम से दी गई हैं। भुवनपाल दो और गाथाओं (२१७, २३४) को भी इन्हीं की लिखता है। यह सर्वसेन प्राकृत काव्य 'हरि-विजय' का रचयिता होना चाहिए। दंडी अपनी 'अवंति-सुंदरी' कथा में 'हरि-विजय' के लेखक सर्वसेन को एक राजा लिखता है। इस नाम का केवल एक ही राजा इतिहास में ज्ञात है जो प्रथम प्रवरसेन के पुत्रों में से एक है तथा जिसने वाकाटक-वंश की वत्सगुल्म शाखा की स्थापना की। इसका नाम इसके पुत्र द्वितीय विंध्यशक्ति के बसीम-ताम्रपत्र में तथा अजंता की गुहा सं० १६ पर उल्लिखित पाया गया है। सर्वसेन का समय ई० ३३०—३३५ है।

(३) **मान**—इसकी चार गाथाएँ (१०१—१०४)—हैं। श्री मिराशी इसको वाकाटक-वंश की दोनों शाखाओं का अंत कर कुंतल देश में राष्ट्रकूट-वंश की स्थापना करनेवाला मान (मानराज या मानांक) बताते हैं, जिसका समय लगभग ३७५ ई० माना जाता है। चित्तौड़ (मेवाड़) के 'मान' नामक एक मोरी राजा का ७२३ ई० का शिलालेख कर्नल टाड को मानसरोवर झील (चित्तौड़) से भी प्राप्त हुआ है।

(४) **देवराज या देव**—यह सप्तशती की तीन गाथाओं—१३८, २३६ और १५८ (इस गाथा पर केवल 'देव' का नाम दिया गया है)—का रचयिता कवि है। श्री मिराशी[२८] इसे राष्ट्रकूट मानांक का पुत्र समझते हैं जिसके दरबार में द्वितीय चंद्रगुप्त ने प्रसिद्ध कवि और नाटककार कालिदास को दूत बनाकर भेजा था।

२८—इं० हि० क्वा०, दि० १९४७, पृ० ३०७

राष्ट्रकूट-वंश की दो ताम्रलिपियों में इसका नाम उल्लिखित है। इसके द्वारा रचित कोई प्राकृत काव्य तो अभी तक प्रकाश में नहीं आया, परंतु यह अनुमान होता है कि दोनों पिता (मान)-पुत्र (देवराज) प्राकृत कविता के प्रेमी तथा मुक्तक पद्यों या गाथाओं के रचयिता थे। हेमचंद्र अपने ग्रंथ 'देसीनाममाला' में देवराज कृत देसी नामों के एक कोश का उल्लेख करता है, जिसका लेखक संभवतः यही देवराज था। इस नाम के और भी राजा नवीं और दशवीं शताब्दियों के शिलालेखों में उल्लिखित पाए जाते हैं।

(५) **वाक्पतिराज**—यह गाथा ६५, ६१६, ६१७ और ६१८ का कवि है जो निस्संदेह महाराष्ट्री काव्य 'मधुमथन-विजय' और 'गोडवाहो' का रचयिता है। इसके पद्य और नाम का उल्लेख आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और हेमचंद्र के ग्रंथों में भी मिलता है। यह भवभूति का समकालीन तथा कन्नौज के प्रतिहार राजा यशोवर्मन का राजकवि था। इसका जीवनकाल आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निश्चित किया जाता है। 'वाक्पपतिराज' परमार राजा मुंज का एक विरुद भी था।

(६) **कर्ण या कर्णराज**—यह गाथा ५४ और ४५४ का कर्ता है। हाल ही में अकोला जिले के तरहला ग्राम से कुछ सिक्के इस नाम के प्राप्त हुए हैं। श्री मिराशी इसे सातवाहन-वंश का एक राजा बताते हैं जिसने ई० २२६ से २३८ तक राज्य किया।

(७) **अवंतिवर्मन**—गाथा सं० ३२०, २६६ और ३१६ इसके नाम की हैं। यह निश्चित ही इस नाम का काश्मीर का प्रसिद्ध राजा है जिसके दरबार में 'ध्वन्यालोक' का लेखक आनंदवर्धन रहता था। समय ई० ८५५-८८४।[२९]

(८) **ईशान**—यह गाथा सं० २७५ और ८४ का रचियता, प्राकृत भाषा का विख्यात कवि तथा बाणभट्ट का समकालीन एवं मित्र था, जिसका उल्लेख कादंबरी में भी हुआ है। समय सातवीं शती का पूर्वार्ध।

(९) **दामोदर (गुप्त)**—संभवतः यह काश्मीर-नरेश जयपीड़ (ई० ७७९ से ८१३) के दरबार में रहता था। यह 'संभली' या 'कुट्टिनीमत' का लेखक ज्ञात होता है जिसमें 'रत्नावली' की कथा और एक पद्य उद्धृत मिलता है। सप्तशती की गाथा सं० १०६ इसी की है।[३०]

२९—श्री वल्लभ कृत सुभाषितावलि की श्री पीटरसन लिखित अंग्रेजी भूमिका।

३०—वही।

(१०) मयूर—यह गाथा २४१ का कवि है। बाण अपनी कादंबरी में इसे प्राकृत भाषा का कवि और अपना संबंधी बताता है। बाण इसी का दामाद था, अतः इसका काल भी सातवीं शती का पूर्वार्ध ही मानना चाहिए।

(११) बप्प स्वामी—इसकी गाथाएँ सं० १७४ और ६५ हैं। यह एक प्रख्यात कवि और जैनाचार्य अनुमान किया जाता है जो प्रतिहार सम्राट नाग व लोक या द्वितीय नाग भट्ट का मित्र और समकालीन था। इसका वर्णन चंद्रप्रभसूरि कृत 'प्रभावक चरित' के 'बप्पभट्टी-चरित' में भी मिलता है। द्वितीय नागभट्ट के राजत्व-काल (८१३–८३३ ई०) के लगभग ही इसका भी समय होना चाहिए।

(१२) वल्लभ (देव) या भट्ट वल्लभ—यह 'भिक्षाटन' काव्य का रचयिता हो सकता है। कवि का पूरा नाम शिवदास मिलता है। कैयट ने आनंदवर्धन के 'देवीशतक' की अपनी टीका (ई० ६७७) में अपने आपको चंद्रादित्य का पुत्र और वल्लभदेव का पौत्र सूचित किया है। अपने 'भिक्षाटन' काव्य में वल्लभ अपने से पहले के कवि कालिदास और बाणभट्ट का उल्लेख करता है। अतः इसका समय आठवीं वा नवीं शताब्दी में होना चाहिए।

(१३) नरसिंह—यह गाथा ३१४ का रचयिता है। इसके कतिपय श्लोकों का उल्लेख अभिनवगुप्त-कृत ध्वन्यालोक की टीका में तथा शार्ङ्गधरपद्धति में भी है। बहुत संभव है यह जौल देश (बंबई के धारवाड़ जिले में) का चालुक्य (सोलंकी)-वंशी राजा हो। इस वंश के दस राजाओं का उल्लेख कवि पंप द्वारा रचित 'विक्रमार्जुन-विजय' (र० का० ई० ९४१) नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में भी मिलता है। इस सूची में दो राजा नरसिंह नाम के तथा दो अरिकेसरी नाम के दिए गए हैं। अरिकेसरी की भी कुछ गाथाएँ सप्तशती में पाई जाती हैं। नरसिंह और अरिकेसरी दोनों (पिता, पुत्र) ने, बहुत संभव है, मुक्तक गाथाओं की रचना की हो, जिनमें से कुछ सप्तशती में भी संकलित की गईं। ये द्वितीय नरसिंह और द्वितीय अरिकेसरी (जिसके समय में कवि पंप भी रहता था) ही होने चाहिएँ।[31] इस वंश के राजा नवीं और दसवीं शताब्दी में राज करते थे। 'नरसिंह' कन्नौज के राजा यशोवर्मन का उपनाम भी था।

(१४) अरिकेसरी—यह उपर्युक्त नरसिंह का पुत्र होना चाहिए। गाथाएँ २२० तथा १५६ इसी की रची जान पड़ती हैं।

३१—गौ० ही० ओझा, सोलंकियों का प्राचीन इतिहास, पृ० ४३०–३३

(१५) वत्स, वत्सराज या वत्सभट्टी—गाथाएँ सं० १६६ और ३२२ वत्स के नाम से उद्धृत हैं। कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार-वंश में वत्सराज नाम का एक राजा नवीं शताब्दी में हुआ है। संभव है कि इस राजा के दरबार में प्राकृत का प्रचार रहा हो तथा इसने स्वयं भी कुछ शृंगारिक गाथाएँ लिखी हों। यह भी संभव है कि मंदसोर-प्रशस्ति (४७३ ई०) का लेखक वत्सभट्टी ही इन गाथाओं का रचयिता हो। जो हो, वत्स नाम पाँचवीं और नवीं शती के बीच कई राजाओं और व्यक्तियों के इतिहास में मिलता है और इनमें से किसी को भी इन गाथाओं का कवि मानें, वह प्रथम शताब्दी के तो बहुत बाद में ही हुआ।

(१६) आदिवराह—गाथा सं० ८५ का कवि। प्रतिहार राजा भोजदेव के समय की ग्वालियर-प्रशस्ति में भोजदेव का उपनाम 'आदिवराह' दिया है जिससे यह पूर्णतया निश्चित हो जाता है कि यह गाथा[32] इस कन्नौज-सम्राट् भोज ने ही लिखी। ग्वालियर-प्रशस्ति का समय ई० ८७६ होने से इसका समय नवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१७) माउर देव—सप्तशती की तीन गाथाएँ (सं० २६१, २८४, ३४६) इसकी रचना हैं। प्राकृत साहित्य का प्रसिद्ध जैन लेखक स्वयंभू, जिसका समय श्री नाथूराम प्रेमी[33] ई० ६७८ और ७८४ के बीच निर्धारित करते हैं, अपने ग्रंथों में अपने को भाषा कवि माउरदेव का पुत्र लिखता है। इसके तीन प्रसिद्ध ग्रंथ पउम-चरिउ, रिट्ठनेमि-चरिउ और पंचमी-चरिउ हैं। प्राकृत भाषा के छंद और व्याकरण पर भी इसकी विशद रचना मिलती है। स्वयंभू का व्याकरण प्रसिद्ध है। इन ग्रंथों में इस जैन लेखक ने अपने पूर्वकालीन प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक कवियों के पद्यों का उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि यह भी प्राकृत का प्रख्यात कवि था। स्वयंभू का पिता होने से इसका जीवनकाल सातवीं और आठवीं शती में ही ठहरता है।

(१८) विअड्ढ (विअड्ढइंद्र)—मुद्रित सप्तशती में इसकी पाँच गाथाएँ २३६, २६२, २६६, २६७ और २६१ संकलित बताई गई हैं। यह भी स्वयंभू के ग्रंथों में परवर्ती शताब्दियों के एक प्रसिद्ध प्राकृत और अपभ्रंश कवि के रूप में स्मरण

३२—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १ पृ०, १५६

३३—नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८४–८५

किया गया है। अपने छंद-ग्रंथ में स्वयंभू स्थान-स्थान पर इसकी रचनाओं को उदाहरणार्थ उद्धृत करता है। विश्रट्ठ का काल ई० छठी या सातवीं शती होना चाहिए।

(१६) धनंजय—गाथा ३२८ इसकी रचना है। इस नाम के दो प्रसिद्ध कवियों का परिचय हमें इतिहास से मिलता है। एक 'धनंजय' मालवा-नरेश मुंज परमार का राजकवि था, जो संभवतः सिंधुल और प्रसिद्ध भोज के समय तक जीवित रहा। इसी नाम के दूसरे लेखक का एक श्लोक वीरसेन-कृत 'धवला' टीका में भी उद्धृत मिलता है और उसने एक प्राकृत कोष 'नाममाला' की भी रचना की है। 'धवला' टीका ७१७ ई० में लिखी गई। इन दोनों धनंजयों में से यदि कोई भी सप्तशती की गाथा का कवि हो तो उसका समय ई० छठी और दसवीं शती के बीच निर्धारित होता है।

(२०) कविराज—इस नाम से दो गाथाएँ (७५८, ७५६) सप्तशती में पाई जाती हैं। 'कविराज' कन्नौज के प्रसिद्ध कवि राजशेखर का विरुद था।[३४] राजशेखर प्राकृत कविता और साहित्य का अद्वितीय विद्वान् था। काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, सूक्तिमुक्तावलि आदि इसकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। यदि इसके विरुद 'कविराज' नाम से भी इसकी रचनाएँ प्रसिद्ध रही हों तो यह मानना अनुचित न होगा कि सप्तशती की ये दो गाथाएँ इसी की रचना हैं। इसका समय ई० ८८०—६२० है।

(२१) सिंह—गाथा ४७ और ३०६ इसकी रचना हैं। इस नाम का एक प्रसिद्ध राजा मेवाड़ के गुहिलोत-वंश में संभवतः नवीं शती के प्रथम चरण में हुआ था। शक्तिकुमार के ६७७ ई० के आहाड़ से प्राप्त शिलालेख[३५] में इसका उल्लेख मिलता है। इसमें इसे प्रथम भर्तृपट्ट का पुत्र तथा चाटसू की प्रशस्ति[३६] में ईशान भट्ट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

(२२) अमित (गति)—इस कवि की दो गाथाएँ (१६० और ४३) सप्तशती में सम्मिलित हैं। यह माथुर संघ का दिगंबर जैन साधु और प्राकृत भाषा

३४—सी० डी० दलाल, काव्यमीमांसा की प्रस्तावना

३५—इंडियन एंटिक्वेरी, जि० ३६ पृ० १६१

३६—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १२ पृ० १३—१७

का प्रसिद्ध कवि हुआ है।[३७] मालवा के प्रसिद्ध राजा मुंज परमार के दरबार में इसका बड़ा सम्मान था। अमितगति ने ६६३ ई० में अपना 'सुभाषित-रत्न-संदोह' और १०१३ ई० में 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ संपूर्ण किया।

(२३) **माधवसेन**—गाथा ३२७ इसकी कृति है। उपर्युक्त कवि और जैन साधु अमितगति के गुरु का नाम भी माधवसेन था। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों गुरु-शिष्य प्राकृत कविता में रुचि रखते तथा रचना भी करते थे।

(२४) **शशिप्रभा**—गाथा ३०४ की कवयित्री थी। पद्मगुप्त जो परमार राजा मुंज और उसके उत्तराधिकारियों के दरबार में रहता था, अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नव-साहसांक-चरित' में राजा सिंधुल की रानी शशिप्रभा का वृत्तांत लिखता है। बहुत संभव है कि इस विदुषी रानी ने भी प्राकृत में मुक्तक पद्यों की रचना की हो, जो सर्वप्रिय हो जाने से सप्तशती जैसे संग्रह-ग्रंथ में संकलित हो पाए।

(२५) **नरवाहन**—गाथा १७१ का रचयिता। मेवाड़ के गुहिलोत राजाओं में इस नाम का एक राजा उपर्युक्त राजा सिंह के उत्तराधिकारियों में वंशावलियों में उल्लिखित है। इस राजा का एक शिलालेख सन् ६७१ ई०[३८] का एकलिंग जी (उदयपुर के पास) नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। बहुत संभव है कि सप्तशती की यह गाथा भी इसी की रचना हो। आहाड़ के सन् ६७७ ई० के शिलाभिलेख में इसे 'शालिवाहन' का पिता लिखा है।

इस प्रकार और भी अनेक कवियों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है जिससे सप्तशती की गाथाओं के रचयिताओं का समय स्पष्ट रूप से तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों तक सिद्ध होता है। इन कवियों की एक न एक गाथा मूल सप्तशती में भी संकलित थी, क्योंकि इनके नाम की गाथाएँ सप्तशती की सभी उपलब्ध प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किसी प्राकृत-प्रेमी शैव राजा ने छः अन्य दरबारी कवियों की सहायता से अपनी श्रृंगारी मनोवृत्तियों के अनुकूल प्राचीन एवं समकालिक प्राकृत कवियों की रचनाओं में से ७०० मुक्तक गाथाएँ चुनकर 'गाथासप्तशती' या 'शालिवाहन-सप्तशती' नाम से पहली बार संगृहीत कीं।

३७—नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास।

३८—ज० रा० ए० सो० बां० ब्रां०, जि० २२ पृ० १६६–६७

'गाथासप्तशती' के रचयिता और रचनाकाल के संबंध में दिए गए उपर्युक्त तर्कों के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वर्तमान रूपवाली 'गाथा-सप्तशती' अपने इस रूप में प्रथम शताब्दी वाले गाथाकोषकार 'हाल-सातवाहन' के द्वारा विरचित नहीं हो सकती। यदि यह किसी 'हाल', 'शाल' या 'शालिवाहन' की ही है तो यह 'शालिवाहन' उससे भिन्न और बाद के किसी समय का होना चाहिए जो दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ठहरता है।

'गाथा-सप्तशती' संबंधी भ्रांतियाँ एवं उनका निराकरण

'गाथासप्तशती' का वर्तमान स्वरूप इस बात की ओर संकेत करता है कि यह संग्रह किसी कुशल कवि या काव्य-मर्मज्ञ ने विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न प्रसंगों में और विभिन्न समयों में विरचित एक विशेष रस की प्राकृत गाथाओं को लेकर सात शतकों में ग्रथित किया है। हमारे अनुमान से ये गाथाएँ कवियों और काव्य-प्रेमियों में अत्यंत प्रचलित थीं और साहित्य और काव्य-ग्रंथों में इनको उद्धृत किया जाता था।[३९] यह संभव है कि 'हाल' सातवाहन का गाथाकोष इसकी रचना के समय उपलब्ध रहा हो और उसके भी एक भाग में से (जिसमें कामशास्त्र विषयक गाथाएँ रही होंगी) कई सौ गाथाओं का चयन करके उनका इस 'गाथा-सप्तशती' में समावेश किया गया हो। हमारे इस कथन की पुष्टि सप्तशती की तीसरी गाथा करती है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि कोटि गाथाओं में से चयन कर 'कविवत्सल' हाल (शाल, शालिवाहन) के द्वारा सप्तशती संकलित हुई। मूल गाथा हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। बहुत संभव है, 'हाल' सातवाहन के गाथाकोष की ही 'कोटि' गाथाओं की ओर यह संकेत हो। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी सूचित करना उचित समझते हैं कि परवर्ती टीकाकारों ने 'गाथासप्तशती' के संग्रहकर्ता 'कविवत्सल हाल' (शाल, शालिवाहन) और गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) दोनों को एक ही व्यक्ति मानकर दोनों की रची गाथाओं को 'हाल' नाम से ही अंकित कर दिया है, यद्यपि कुछ गाथाओं में कवि के लिये 'शालिवाहन' या 'शाल' पाठ भी मिलता है। पीतांबर[४०] की टीका में कई गाथाओं को 'हाल'

३९—ध्वन्यालोक, तल्लोचन, सरस्वती-कंठाभरण, काव्यप्रकाश आदि ग्रंथों में गाथा कोष से कई गाथाओं को उद्धृत किया गया है।

४०—गाथा-सप्तशती-प्रकाशिका (१९४२), पं० जगदीशलाल द्वारा संपादित।

के स्थान पर 'शालवाहन' नाम से अंकित किया है। ये गाथाएँ गाथाकोषकार 'हाल' सातवाहन की नहीं, प्रत्युत सप्तशती के कर्ता 'शालवाहन' की होनी चाहिए। यह बात लक्ष्य करने की है कि निर्णयसागर द्वारा मुद्रित गाथासप्तशती में पीतांबर द्वारा दी गई 'शालवाहन' के नाम की कई गाथाओं को 'हाल' द्वारा रचित नहीं लिखा है।[४१] इससे यह सिद्ध है कि गाथाओं के साथ उनके रचयिता कवि का नाम अंकित करने में टीकाकारों ने अनेक भूलें की हैं। कवियों के नामों की सूची में अनेक पाठांतर हैं, उनकी गाथाओं में हेरफेर हैं तथा अनेक कवियों के नाम ही गाथाओं पर अंकित नहीं हैं। ऐसी दशा में गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन) और सप्तशतीकार 'हाल' (शालवाहन) की गाथाओं में भी बड़ी विशृंखलता हो गई है। यह उसी भ्रांति का परिणाम है जिसका उल्लेख हम करते आए हैं तथा जिससे 'गाथाकोष' और 'सप्तशती' एक ही ग्रंथ माने जाने लगे। यहाँ तक कि धीरे-धीरे 'शालिवाहन'-सप्तशती का नाम ही 'हाल'-सातवाहन-विरचित 'गाथा-सप्तशती' हो गया और उसके वास्तविक नाम और संकलनकर्ता को ही भुला दिया गया। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि 'हाल' (सातवाहन) के 'गाथाकोष' की भी अनेक गाथाएँ सप्तशती में सम्मिलित की गई हैं। केवल प्रथम शतक के प्रारंभ की तीन गाथाएँ तथा दूसरे शतकों के प्रारंभ और अंत की या कुछ अन्य गाथाएँ ही, जिनके साथ 'शालवाहन' पाठांतर मिलता है, सप्तशती के 'शालिवाहन' की हैं। शेष 'हाल' नाम से अंकित गाथाएँ दक्षिण के 'हाल' सातवाहन की हैं और वे 'गाथाकोष' में से चयन की गई प्रतीत होती हैं। राजा 'हाल' सातवाहन के अतिरिक्त सप्तशती में उसकी राजसभा के प्रसिद्ध कवि 'पालित'[४२] और 'गुणाढ्य'[४३] की भी कुछ गाथाएँ सम्मिलित हैं। यह भी स्पष्ट है कि सप्तशती के कर्ता 'हाल' को सप्तशती में कहीं भी 'सातवाहन' नाम से उल्लिखित नहीं किया है। इससे प्रकट होता है कि वह गाथाकोषकार 'हाल'-सातवाहन से सर्वथा भिन्न है और उसे सातवाहनवंशी बताना भ्रम ही है।

४१—वी० वी० मिराशी, द डेट ऑव गाथासप्तशती (लेख), इं० हि० क्वा०, दि० ४७.

४२—गाथा सं० ४१७, ६३, २१७, २४८, २५६, ३०७, ३६३, ३६४

४३—गाथा सं० १६०

सप्तशती की कई गाथाओं में दक्षिण-भारत की नदियों[४४] (जैसे गोदावरी, रेवा, तापी) और पर्वत आदि के उल्लेख भी मिलते हैं। अनेक गाथाओं के अज्ञात कवियों के नाम भी उनके दक्षिण-भारत के निवासी होने के सूचक हैं; जैसे अणुलक्ष्मी, आंध्रलक्ष्मी इत्यादि। गाथाओं में वर्णित विषय और शब्दावलि से भी उनके रचयिता का महाराष्ट्री या दक्षिणी होना सिद्ध होता है। इन बातों के आधार पर यह अनुमान करना भी अनुचित न होगा कि उक्त सब गाथाएँ 'हाल-सातवाहन' के बृहद् गाथाकोष में से संकलित की गई हैं। परंतु केवल इनके आधार पर सप्तशती को ही 'गाथाकोष' मान लेना (जैसा कि अनेक प्रसिद्ध इतिहासकार मानते हैं) वस्तुतः एक बड़ी भ्रांति है। यदि सप्तशती की गाथाओं का गहराई से अध्ययन करें तो उसमें उत्तर-भारत के भी वर्णन मिलते हैं। अनेक गाथाओं में आए हुए पर्वतीय भूभागों, सिंचाई और खेती के तरीकों, वहाँ उत्पन्न होनेवाली फसलों और वनस्पतियों, भीलों व्याधों और अनार्य जाति की युवतियों के प्रसंग विंध्याचल और अरावली पर्वत की घाटियों तथा उनमें बसनेवाली भील और व्याध जातियों के जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं तथा उन गाथाओं के रचयिता कवियों का भी इसी भूभाग (उत्तर-भारत) का निवासी होना सिद्ध करते हैं। एक गाथा में यमुना नदी का उल्लेख है।[४५] अतः यह कहना भूल होगा कि सप्तशती की गाथाओं में उत्तर-भारत का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता। दक्षिण-भारत की नदियों आदि के जो दो-चार उल्लेख सप्तशती में मिलते हैं वे केवल यही सिद्ध करते हैं कि 'हाल'-सातवाहन के बृहद् गाथाकोष में से भी अनेक गाथाओं का सप्तशती में चयन हुआ है। अतः उनके आधार पर गाथा-सप्तशती को ही गाथाकोष मान लेना किसी प्रकार उचित नहीं।

अब प्रश्न यह है कि दसवीं शती में शालिवाहन नाम का वह कौन सा शैव राजा हो सकता है जिसके द्वारा या जिसके संरक्षण में सप्तशती का संकलन-कार्य संपन्न हुआ। हमारे मत से यह राजा मेवाड़ के गुहिलोतवंशी राजा नरवाहन का पुत्र शालिवाहन है, जिसने ई० ९७२-७७ के लगभग राज्य किया तथा जिसका पुत्र

४४—गोदावरी का उल्लेख—गाथा सं० ५८, १०७, १०३, १७१, १७५, १८९, १९३, २३१, ३५५; तापी—गा० सं० २३९; रेवा—गा० सं० ५७८, ५९८

४५—निर्णयसागर द्वारा मुद्रित गाथा-सप्तशती, गाथा सं० ७।६९

एवं उत्तराधिकारी शक्तिकुमार था।[४६] यह स्मरणीय है कि मेवाड़ का राजवंश परंपरा से पाशुपत शैव मत का ही अवलंबी है। यह राजा, जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे, विलासी और विषयी भी था। यहाँ तक कि इसकी दुश्चरित्रता के कारण ही इसका दु:खद अंत हुआ और राजवंशावलियों में इसके नाम और राजत्व-काल तक का उल्लेख नहीं के बराबर किया गया। यह बात असंभाव्य नहीं, क्योंकि जिन राजाओं के द्वारा राजवंश कलंकित होता था उनका उल्लेख वंशावलियों और शिलालेखों में प्रायः नहीं किया जाता था। इसी कारण रणपुर[४७], आबू[४८] और चित्तौड़[४९] आदि से प्राप्त प्रशस्तियों में दी गई वंशावलियों में इस शालिवाहन का उल्लेख नहीं है। किंतु इसके पुत्र और उत्तराधिकारी शक्तिकुमार के समय की सन् ९७७ ई० की आहाड़ या ऐतपुर प्रशस्ति में इसके राजत्व का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रथम शताब्दी में राज्य करनेवाले आंध्रभृत्य-वंश के गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) के अनेक शताब्दियों के अनंतर शालिवाहन नाम का पहिला राजा केवल यह गुहिलोत मेवाड़-नरेश ही हुआ है, जिसकी राजधानी आहाड़ या आड़ (प्राकृत में आह्य) थी। इस नगरी के खँडहर अब भी उदयपुर के पास विद्यमान हैं। इसी समय के लगभग मेवाड़ पर मालवा के परमार राजा मुंज ने चढ़ाई की थी।[५०] उसने आहाड़ को नष्ट कर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। अतः शालिवाहन और उसके उत्तराधिकारी दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक आहाड़ ही में, जो इस काल में प्रसिद्ध तीर्थ और समृद्धिशाली व्यापारिक नगर था, निवास करते रहे तथा यही इनकी राजधानी रहा। इसी लिये इन मेवाड़-नृपतियों को 'आहाड़िया' या 'आहाड़राज' भी पुकारा जाता था। अभी तक उपलब्ध शिला-लेखों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री से भी यह बात प्रमाणित होती है। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राज करनेवाले इस मेवाड़-नरेश गुहिलोत शालिवाहन को केवल नाम-साम्य के कारण 'हाल' सातवाहन समझ लिया गया और इसकी

४६—ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि० १ पृ० ४३०-३१।

४७—भावनगर इन्सक्रिप्शंस, पृ० ११४

४८—इंडियन ऐंटिक्वेरी, जि० १६ पृ० ३४७

४९—भावनगर इन्सक्रिप्शंस, पृ० ७४

५०—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १० पृ० २०, श्लोक १०

गाथा-सप्तशती को ही परवर्ती लेखक 'हाल' सातवाहन द्वारा विरचित बृहद् गाथा-कोष मानने लगे। इस प्रकार भ्रांति उठ खड़ी हुई।

इस प्रकार की भ्रांतियाँ इतिहास में थोड़ी सी असावधानी से अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण या सामग्री के अभाव में हो जाया करती हैं। इसका एक उदाहरण हम यहाँ देना उचित समझते हैं, विशेषतः इसलिये भी कि वह इसी गुहिलोत शालिवाहन से संबंधित है।

मेवाड़ के गुहिल राजा शालिवाहन (९७२–९७७ ई०) के कितने ही वंशज जो जोधपुर राज्य के खेड़ नामक इलाके में राज्य करते थे, गुजरात के सोलंकियों के अभ्युदय के समय खेड़ से अनहिलवाड़ा जाकर सोलंकियों की सेना में रहने लगे। गुहिलवंशी साहार के पुत्र सहजिक को कालांतर में चालुक्य राजा (संभवतः सिद्धराज जयसिंह) ने अपना अंग-रक्षक नियत किया। उसको काठियावाड़ में प्रथम जागीर मिली और वहाँ गुहिलवंशियों की संतति का प्रवेश हुआ। सहजिक के पुत्र मूलुक और सोमराज थे। मूलुक अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। उसके वंश में काठियावाड़ में भावनगर, पालिताना आदि राज्य और गुजरात के रेवाकाँठे में राजपीपला है। प्राचीन इतिहास के अंधकार में पीछे से इन राजवंशों ने अपना संबंध किसी न किसी इतिहास-प्रसिद्ध राजा से मिलाने के उद्योग में, यह न जानने से कि वे मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने पूर्वज गुहिल शालिवाहन को शक-संवत् का प्रवर्तक पैठण (प्रतिष्ठानपुर) का प्रसिद्ध आंध्रभृत्य या सातवाहन-वंशी शालिवाहन मान लिया और चंद्रवंशी न होने पर भी उसको चंद्रवंशी ठहरा दिया। परंतु डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने अनुसंधान के फलस्वरूप यह सिद्ध कर दिया कि यह कल्पना सर्वथा निर्मूल और असत्य है; क्योंकि काठियावाड़ आदि के गुहिल पहिले अपने को मेवाड़ के राजाओं की नाईं सूर्यवंशी ही मानते थे तथा भावनगर आदि से प्राप्त भाटों की ख्यातों में इनके पूर्वज शालिवाहन राजा को 'गुहिल' और 'नरवाहन का पुत्र' स्पष्ट लिखा है। अतः काठियावाड़ के गुहिल राजवंश भी दक्षिण के सातवाहन (शालवाहन) के वंशज नहीं, प्रत्युत इसी मेवाड़-नृपति शालिवाहन के ही संबंधी थे; केवल नाम-साम्य के कारण यह भ्रांति हो गई।[५१] प्रायः सभी आधुनिक

५१—ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि० १ पृ० ४३०-३२

इतिहासज्ञ ओझा जी द्वारा किए गए इस भूल के निराकरण को अब स्वीकार कर चुके हैं।

इस एक उदाहरण से विदित होता है कि जब एक राजवंश अपने ही पूर्वजों के इतिहास और इतिवृत्त को भुलाकर किसी सुदूर-कालीन एवं पूर्णतया असंबद्ध राजा से अपना संबंध स्थापित कर सकता है, जो निश्चय ही एक भयंकर भूल है, तो एक ग्रंथ के वास्तविक रचयिता को भुलाकर केवल नाम-साम्य अथवा किसी भ्रांति के कारण उसका संबंध किसी दूसरे प्रसिद्ध नाम से जोड़ देना तो एक बहुत साधारण और संभाव्य बात हो सकती है। हमारा निष्कर्ष है कि मेवाड़ का पाशुपत शैव राजा शालिवाहन ही 'गाथा-सप्तशती' का वास्तविक संकलनकर्ता है। कृति के स्वरूप तथा रचयिता के नाम के विचित्र-साम्य के कारण इसकी 'शालिवाहन-सप्तशती' को प्रसिद्ध सातवाहन (शालवाहन या हाल) द्वारा विरचित कोष (गाथाकोष) समझना शुद्ध भ्रम है।

एक दूसरे से देश, काल और गुणों में नितांत भिन्न इन दोनों शालिवाहनों के संबंध में जिस भ्रांति का ऊपर उल्लेख किया गया है वैसी ही एक भ्रांति इनके संबंध में और भी हुई जान पड़ती है और वह भी यह प्रमाणित करती है कि किस प्रकार इन दो शालिवाहनों के वंशजों एवं ग्रंथों को ही परस्पर एक नहीं समझ लिया गया, अपितु उनके जीवन-वृत्त को भी एक दूसरे के साथ जोड़ दिया गया है। यह भ्रांति भी साधारण लेखकों के द्वारा नहीं, प्रत्युत प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनप्रभ-सूरि और राजशेखर सूरि के द्वारा उनके 'विविध-तीर्थ-कल्प' और 'चतुर्विंशति-प्रबंध' जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों में हुई, जो बहुत अंशों में इतिहास-ग्रंथ माने जाते हैं।

जिनप्रभसूरि अपने 'कल्पप्रदीप' अथवा विशेषतया प्रसिद्ध 'विविधतीर्थ-कल्प'[५२] में जैन तीर्थ प्रतिष्ठान-पत्तन या प्रतिष्ठान नगरी के वर्णन के प्रसंग से वहाँ के नरेश सातवाहन (गाथाकोषकार और संवत्सर-प्रवर्तक शालिवाहन) का जीवनवृत्त वर्णन करता है। 'प्रतिष्ठानपुरकल्पः' शीर्षक प्रबंध में सातवाहन का गौरव-वर्णन करने के पश्चात् उसी के अनंतर वह 'प्रतिष्ठानपुराधिपति-सातवाहन-नृप-चरित्रं' प्रबंध में प्रसंग से 'पर-समय-लोक-प्रसिद्ध' सातवाहन-चरित्र की एक स्फुट कथा भी लिखता है। यह अत्यंत विस्मयोत्पादक है कि इस कथा में सातवाहन राजा का जो स्वरूप और चरित्र लक्षित होता है वह पूर्व-वर्णित सातवाहन-चरित्र

५२—विविधतीर्थकल्प (सिंघी-जैन-ग्रंथमाला), पृ० ५९-६४

से भिन्न ही नहीं, नितांत विपरीत जान पड़ता है और यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि ऐसा वृत्त उस अतिप्रसिद्ध प्रतापी और गौरवशाली संवत्सर-प्रवर्तक दक्षिणापथ के सम्राट् सातवाहन का हो सकता है। यह वृत्त तो उसी मेवाड़-नरेश शालिवाहन का होना चाहिए जिसे हम सप्तशती के साथ संबद्ध कर चुके हैं। कथा इस प्रकार है—

सातवाहन का एक ब्राह्मण मंत्री था शूद्रक। उसने सातवाहन की धर्षिता रानी को पुनः प्राप्त करवाया। राजधानी प्रतिष्ठान में उसके रक्षार्थ पचास योद्धा बाहर और पचास भीतर नियुक्त थे। सातवाहन ने शूद्रक को नगरी का दंडनायक बना दिया। एक बार सातवाहन ने बावन हाथ लंबी शिला को पचास अधिकारियों के साथ ऊपर उठाने की स्पर्द्धा की···। परंतु द्वादशवर्षीय शूद्रक ने उस शिला को उठाकर इतने वेग से आकाश में फेंक दिया कि वह गिरकर तीन टुकड़े हो गई। एक टुकड़ा बारह कोस दूर जा गिरा, दूसरा पैठन में गोदावरी के नागहृद में पड़ा और तीसरा चतुष्पथ (चौराहा) पर अब भी विद्यमान है। शूद्रक की इस असाधारण शक्ति से प्रभावित होकर राजा ने उसे पुर के रक्षार्थ संपूर्ण अधिकार दे दिए।····· कोई अनर्थ न हो जाय, इसलिये वह अपने दंड (छड़ी) मात्र से ही अन्य वीरों (सामंतों) को पुर में प्रविष्ट नहीं होने देता था।[५३]

इसके उपरांत एक और कथा देकर अंत में लेखक कहता है—

सातवाहन का अंत इस प्रकार हुआ कि वह कामी और विलासी हो गया, यहाँ तक कि प्रति चौथे दिन चारों वर्णों में से किसी में भी जिस कन्या को युवती या रूपशालिनी देखता या सुनता उसी के साथ बलात् विवाह कर लेता। इस प्रकार बहुत दिनों तक चलता रहा। अंत में दुखी और क्रुद्ध प्रजा में से 'विवाहवाटिका' नामक एक ग्रामवासी ब्राह्मण ने 'पीठजादेवी' से प्रार्थना की कि राजा की इस कुरीति से उनकी संतति के विवाह-संबंध में बाधा आती है। देवी ने उसकी कन्या बनने का और राजा को दंड देने का वचन दिया। फलतः जब विवाह हो चुका और प्रथम-मिलन की बेला आई तो उस कन्या ने 'कालिका' का रूप धारण करके राजा का पीछा किया। राजा प्राण-रक्षा के लिये भागा और अंत में नागहृद में गिरकर डूब मरा।

५३—विविध-तीर्थ-कल्प, पृ० ६१–६२; ज० रा० ए० सो० (बां० ब्रां०), जि० १० पृ० १३२–३३

इसके पश्चात् शक्तिकुमार का राज्याभिषेक हुआ और वह 'सातवाहनायनी' कहलाया। उसके पश्चात् आज तक वीरक्षेत्र प्रतिष्ठान में कोई राजा प्रवेश नहीं कर सका।[५४]

अंत में एक श्लोक इस आशय का लिखा है—

यदि यहाँ (उपर्युक्त कथा में) कोई बात असंभाव्य भी हो तो उसे 'पर-समय' (अर्थात् दूसरे के द्वारा मान्य) ही समझना चाहिए; क्योंकि जैन कभी असंगत बात नहीं कहते।[५५]

उपर्युक्त कथा का सम्यक् विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन के जीवनवृत्त के साथ किसी दुश्चरित्र राजा के वृत्त का विचित्र रूप से मिश्रण कर दिया गया है। कथा का पूर्वार्ध, जिसमें शूद्रक द्वारा सातवाहन की धर्षिता रानी को पुनः प्राप्त करने की सूचना है, संभवतः आंध्र-देशीय सातवाहन-वंश के किसी राजा के साथ संबंधित है, किंतु शेष कथा जिसमें राजा की विलासिता के कारण क्रुद्ध जनता द्वारा उसका अंत किया जाना और उसके बाद शक्तिकुमार का गद्दी पर बैठना बताया गया है, मेवाड़ के गुहिल शालिवाहन की ही जीवन-कथा विदित होती है; क्योंकि उसी का उत्तराधिकारी शक्तिकुमार हुआ और इस नाम का कोई राजा दक्षिण के सातवाहन-वंश में नहीं हुआ। जान पड़ता है मेवाड़ के गुहिल शालिवाहन का यह जीवनवृत्त लोकप्रसिद्ध था, यद्यपि उसके हीनचरित्र होने के कारण संभवतः उसके राजत्व एवं नाम का उल्लेख वंशावलियों और शिलालेखों में प्रायः नहीं पाया जाता। इतिहास द्वारा उसकी इस उपेक्षा के कारण ही जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने उक्त वर्णित कथा में स्वयं यह संभावना प्रकट की है कि यदि इस कथा की घटनाओं में कुछ असंभाव्य हो तो उसका उत्तरदायी वह नहीं, बल्कि 'पर-समय' है।

संभव है इन दोनों शालिवाहनों की और भी बातें एक दूसरे के साथ भूल से मिश्रित हो गई हों। हम तो यहाँ विशेष रूप से इसी बात पर ध्यान दिलाना

५४—ततः शक्तिकुमारो राज्याभिषिक्तः सातवाहनायनिः। तदनन्तरमद्यापि राजा न कश्चित् प्रतिष्ठाने प्रविशति वीरक्षेत्रे इति।

५५—अत्र च यदसम्भाव्यं तत्र परसमय एव।
मन्तव्यो हेतुर्यन्नासंगतवाग्जनो जैनः॥

चाहते हैं कि इस शालिवाहन की सप्तशती को सातवाहन के साथ जोड़कर 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' समझ लेने की भूल भी इसी प्रकार हुई।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित जान पड़ता है कि गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में उत्तर-भारत में एक बार फिर से प्राकृत भाषा ने जोर पकड़ा और उसमें विपुल काव्य-रचना होने लगी। लोग प्राकृत को संस्कृत से भी मधुर और काव्योपयोगी समझने लगे, जैसा कि उस काल के कवि और लेखकों के कथनों और ग्रंथों से प्रकट होता है। राजा भोज (१०१०—१०५० ई०) अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में एक श्लोक द्वारा यह सूचित करता है कि 'आढ्यराज के राज्य में कौन प्राकृतभाषी और साहासांक के समय में कौन संस्कृतभाषी नहीं हुआ ?' अर्थात् आढ्यराज प्राकृत भाषा और कविता का प्रेमी एवं आश्रयदाता था। उसके राज्य में प्रायः सभी प्राकृत भाषा ही बोलते थे और उसी में काव्य-रचना भी करते थे, जैसे साहसांक (द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य) के समय में संस्कृत भाषा में। श्लोक यह है[५६]—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥

'आढ्यराज' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार रत्नेश्वर 'आढ्यराज' को 'शालिवाहन' और 'साहसांक' को विक्रमादित्य सूचित करता है। इतिहासकारों और साहित्य के विद्वानों के लिये 'आढ्यराज शालिवाहन' कौन था, यह प्रश्न एक पहेली ही बना हुआ है। यह समस्या इस बात से और भी जटिल बन गई कि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के प्रारंभिक अंश के एक श्लोक में आढ्यराज और तत्कृत 'उत्साहों' का उल्लेख किया है। श्लोक इस प्रकार है[५७]—

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वेप्रवर्तते॥

बाण के इस श्लोक पर टीका करते हुए टीकाकार शंकर ने 'आढ्यराज' को कोई कवि और 'उत्साह' को 'तालविशेष छंद' या 'गद्य-पद्य-मिश्रित एक प्रकार का

५६—सरस्वती-कंठाभरण (निर्णयसागर प्रेस)।

५७—हर्षचरित, श्लोक १८

प्रबंध-काव्य' लिखा है। परंतु वह स्वयं निश्चित रूप से कुछ कहने का साहस नहीं करता। विद्वानों[५८] में इसी श्लोक को लेकर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान् टीकाकार शंकर के अर्थ का समर्थन करते हैं तथा दूसरे कहते हैं कि बाण 'आढ्यराज' (अर्थात् संपन्न और समृद्धिशाली राजा) शब्द का प्रयोग इस श्लोक में स्वयं हर्षवर्द्धन के लिये ही करता है, अतः यहाँ किसी अन्य कवि की ओर संकेत नहीं है, तथा 'उत्साह' शब्द भी 'साहसी कार्यों' का ही द्योतक है, किसी विशेष तालवाले छंद का नहीं। हाल ही में श्री आर० सी० हाजरा[५९] ने अपने एक लेख में इस श्लोक का बड़ा वैज्ञानिक विवेचन कर यह सिद्ध किया है कि 'आढ्यराज' शब्द बाण अपने आश्रयदाता सम्राट् हर्ष के लिये ही प्रयुक्त करता है। इस श्लोक का यही अर्थ अधिक शुद्ध और स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। इसलिये यही मानना समीचीन जान पड़ता है कि जिस प्राकृत-प्रेमी 'आढ्यराज' शालिवाहन का उल्लेख भोज अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में करता है उसका बाण के 'आढ्यराज' से, जो हर्षवर्द्धन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, कोई संबंध नहीं है। इस श्लोक का टीकाकार शंकर-कृत अर्थ सर्वथा अमान्य है, क्योंकि न तो अभी तक किसी आढ्यराज नामक महान् कवि का और न 'उत्साह' नामक किसी छंद या प्रबंध-विशेष का ही साहित्य और कोषों में कहीं उल्लेख हुआ है।

भोज जिस शालिवाहन को 'आढ्यराज' विरुद से स्मरण करता है, हमारे मत से वह मेवाड़ का गुहिलवंशी शालिवाहन ही होना चाहिए, जिसे हम प्राकृत गाथाओं की सप्तशती का संग्रहकर्ता सिद्ध कर चुके हैं। यह सर्वविदित है कि दसवीं शताब्दी में मेवाड़ की प्राचीन राजधानी *'आहाड़', 'आड़', 'आघाटपुर' या 'ऐतपुर'* ही थी। जैसा हम ऊपर लिख आए हैं, शालिवाहन की यही राजधानी थी। बहुत संभव है कि प्राकृत में 'आहड़' या 'आड़' को 'आढ्य' और वहाँ के प्रसिद्ध प्राकृत-प्रेमी राजा शालिवाहन को 'आढ्यराज' नाम से पुकारा जाता रहा हो। सप्तशती का प्राचीन टीकाकार चार गाथाओं अर्थात् सं० ६६, १६६,

---

५८—हाल, कावेल और टामस 'आढ्यराज' को कोई अज्ञात कवि या गुणाढ्य के लिये प्रयुक्त मानते हैं। पिशल और पिटर्सन इसे हर्षवर्द्धन के लिये प्रयुक्त विशेषण मात्र मानते हैं। आधुनिक विद्वानों में कोणे, गजेंद्रगड़कर, जीवानंद विद्यासागर आदि शंकर के अर्थ को ही स्वीकार करते हैं।

५९—डा० आर० सी० हाजरा, इं० हि० क्वा० २५।२, जून १९४९, पृ० १२६-२८

२१६ और २३५ को आढ्यराज की रचना बताता है। निर्णयसागर प्रेस द्वारा संपादित गंगाधर भट्ट की टीका में तीन अन्य गाथाओं (सं० २६, २१८ और २३४) को भी आढ्यराज के नाम से अंकित किया है। यह 'आढ्यराज' इसी मेवाड़-नरेश गुहिल शालिवाहन का विरुद जान पड़ता है। दक्षिणापथ का सम्राट् हाल (सातवाहन, शालवाहन) भी प्राकृत भाषा और कविता का प्रेमी था, परंतु 'आढ्यराज' अर्थात् 'आढ्य' का राजा होना उसके लिये कहीं भी उल्लिखित नहीं है और न किसी प्रकार प्रमाणित ही होता है। वह अपने वंश-नाम 'सातवाहन' से ही अधिक प्रसिद्ध रहा जान पड़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मेवाड़-नरेश शालिवाहन ही 'आढ्यराज' कहलाता था तथा उसी ने प्राकृत-प्रेमी होने से प्राकृत गाथाओं का चयन कर यह 'गाथा-सप्तशती' या 'शालिवाहन'-सप्तशती नामक संग्रह-ग्रंथ विरचित किया। यह कहना कठिन है कि यह राजा 'हाल' उपनाम से भी प्रख्यात था या नहीं, परंतु बाद के टीकाकारों और लेखकों ने इसे भी 'हाल' नाम से लिखना प्रारंभ कर दिया।[६०]

यह भी हो सकता है कि इस शालिवाहन राजा ने दक्षिण के प्रसिद्ध सम्राट् प्राकृत कवि और गाथाकोषकार 'हाल' सातवाहन (शालवाहन) के उपनाम 'हाल' को उसके प्रसिद्ध होने के कारण अपना उपनाम बना लिया हो। इस प्रकार इस शालिवाहन के साथ भी 'हाल' उपनाम का प्रयोग होने लगा तथा इससे उत्पन्न भ्रांति के कारण उसके द्वारा दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संकलित 'गाथा-सप्तशती' को ही हाल सातवाहन का प्रथम शताब्दी में संकलित 'गाथाकोष' मान लिया गया। इस प्रकार सर्वथा भिन्न ग्रंथों के रचयिता शालिवाहनों को एक ही राजा समझ लेना तथा इस नितांत भ्रमपूर्ण धारणा के आधार पर अन्य ऐतिहासिक परिणाम निकालना किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। आशा है इतिहास एवं संस्कृत साहित्य के विद्वान् इस परंपरागत भ्रांति के निराकरण के हेतु हमारे उपर्युक्त प्रमाणपुष्ट निष्कर्ष पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे।

६०—यह भी ज्ञातव्य है कि मध्ययुग में बागड़, गुजरात, मेवाड़ और मालवा में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का प्रचलन एवं प्रभाव होने से (जैसा कि अब तक भी है) 'स' का उच्चारण 'ह' ही होता रहा और बहुत संभव है कि 'शालवाहन' या 'शाल' का 'हालवाहन' या 'हाल' भी उच्चारण किया जाता रहा हो।

नवाब-खानखाना-चरितम्

[ले० श्री विनायक वामन करंबेलकर]

एक सद्यःप्राप्त अज्ञात ग्रंथ

संस्कृत के विद्वान् 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य'[1] के रचयिता रुद्र कवि के नाम से परिचित हैं। इस महाकाव्य के संपादक का मत है कि रुद्र कवि ही 'जहाँगीरचरितम्' के भी रचयिता थे। परंतु उनकी इस तृतीय कृति का अभी तक किसी को पता भी नहीं था। 'नबाब-खानखाना-चरितम्' की शैली गद्य-पद्य-मय, अर्थात् चंपू-काव्य के ढंग की है। नागपुर-विद्यापीठ ने यह ग्रंथ नासिक[2] से सन् १६४६ में अपने प्राचीन-हस्तलिखित-ग्रंथ-विभाग के लिये खरीदा था। डा० यशवंत खुशाल देशपांडे (यवतमाल, विदर्भ) की कृपा से इसकी एक दूसरी प्रति भी प्राप्त हुई थी। उन्हें यह पूने में मिली थी।[3] इन दोनों प्रतियों से 'खानखाना-चरितम्' ग्रंथ पूर्णांग रूप से प्राप्त हुआ। आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् ग्रंथ-सूची में जो 'बाब-खान-चरित' निर्देशित किया है[4] वह '(न) बाब-खान-चरित' ही जान पड़ता है।

पूर्व-परिचित ग्रंथद्वय

इन तीनों कृतियों में 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' बीस सर्गों का एक विशाल प्रबंध-काव्य है, जिसकी रचना रुद्र कवि ने लक्ष्मण पंडित से सुनने के पश्चात् की

१—गायकवाड ओरिएंटल सिरीज, जिल्द ५, सन् १६१७

२—नागपुर विद्यापीठ, प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ, क्रमांक ५८२; आकार १०″ × ४½″ पृष्ठ ३ से २२। काफी पुराना ग्रंथ। सुरक्षित। कागज मोटा और धुँधला। लिपि सुंदर, स्पष्ट किंतु अव्यवस्थित। कुछ त्रुटियाँ। प्रथम पृष्ठ अप्राप्त।

३—पूना से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ नया जान पड़ता है, तथापि कागज जीर्ण है। आकार ८″ × ५½″ पृष्ठ १ से २०। लिपि स्पष्ट। परंतु दुर्दैववश हस्तलिखित ग्रंथ में केवल ढाई उल्लास हैं।

४—कैटेलोगस कैटेलोगोरम, जि० १, पृ० ५२८

थी। यह काव्य राष्ट्रौढ (राठौर) वंश के नारायणशाह और प्रतापशाह नामी राजाओं के आज्ञानुसार रचा गया था। नारायणशाह और प्रतापशाह बंबई प्रांत के नासिक जिले (प्राचीन बागुलान) में राज्य करते थे। काव्य का विषय राठौर-वंश का पौराणिक काल से लेकर कथा-नायक के समय तक का इतिहास है। इसमें प्रमुख वर्णन नारायणशाह के पराक्रमों का है। इस प्रकार 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' का रचना-काल शकाब्द १५१८ (ई० १५९६) और रचना-स्थान शालामयूराद्रि निर्दिष्ट किया गया है।[५]

ऐसा कहा गया है कि 'जहाँगीरचरितम्' खंडितप्राय ग्रंथ है। यह भी नासिक में मिला था। इसमें कुछ ऐसे छंद हैं जो 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' के छंदों से मिलते-जुलते हैं। इसका वर्ण्य विषय है अकबर-पुत्र जहाँगीर का चरित। इस ग्रंथ का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ। नवाब-खानखाना-चरित भी शालामयूराद्रि में शकाब्द १५३१ (ई० १६०९) में लिखा गया था—

शाके क्ष्माग्नितिथौ सौम्ये वैशाखे शुक्लपक्षतौ।
चरित्रं खानखानस्य वर्णितं रुद्रसूरिणा ॥ (३।९)

उल्लास-समाप्ति में लिखा है—

इति श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीनवाब-खानखाना-चरिते श्रीशालामयूराद्रिपुरन्दरप्रताप शाहोद्योजित रुद्र कवीन्द्र विरचिते······। (तृतीय उल्लास)

'नवाब-खानखाना-चरित' गद्यमय ग्रंथ है, जिसमें कहीं-कहीं अनियमित रूप से पद्य भी दिखाई पड़ता है। कवि के कथनानुसार यह[६] चंपू-काव्य ही है। ग्रंथ तीन उल्लासों में पूरा हुआ है और अत्यंत ही मँजी भाषा में लिखा गया है। लंबी संधियों, पौराणिक उल्लेखों, क्लिष्ट छंदों और अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों को देखने से महाकवि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का स्मरण हो आता है। परंतु यह बात अवश्य है कि 'नवाब-खानखाना-चरित' का ऐतिहासिक महत्त्व उतना नहीं है। गद्य-भाग

५—शाके भोगिशशीषुभूपरिमिते संवत्सरे दुर्मुखे
मासे चाश्वयुजे सितप्रतिपदि स्थाने मयूराचले।
श्रीमल्लक्ष्मणपण्डितोदितकथामाकर्ण्य रुद्रः कविः
श्रीनारायणशाहकीर्तिरसिकं काव्यं व्यधान्निर्मलम् ॥
(रा० वं० म०, २०।१००)

६—द्वितीय उल्लास के अंत में लिखा है–"चम्पूप्रबन्धे नवाबखानखानानुचरिते···"।

को छोड़कर प्रथम उल्लास में ६, दूसरे में २० और तीसरे में १२ छंद हैं। ग्रंथ समाप्त होने पर पुष्पिका में ऐतिहासिक महत्त्व के छंद आते हैं।

नवाब-खानखाना-चरित के द्वितीय और तृतीय उल्लासों में जहाँगीर के उल्लेख आते हैं। यद्यपि वे ऐतिहासिक दृष्टि से नगण्य हैं तथापि साहित्यिक दृष्टिकोण से इस ग्रंथ की पूर्वकालीनता निश्चित करते हैं। इन छुट-फुट उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जहाँगीर उसी समय दिल्ली के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था और इसलिये वह स्वतंत्र प्रशस्ति-काव्य के योग्य था, जिसके कारण बाद में "जहाँगीरचरितम्" नाम का ग्रंथ लिखा गया। इससे यह पता चलता है कि कवि ने ई० सन् १६०६ में अपनी कलम 'जहाँगीरचरितम्' लिखने के लिये उठाई होगी, परंतु वृद्धावस्था के कारण वह कार्य पूरा न हो सका होगा; अथवा रुद्र कवि की मृत्यु ही उसके अपूर्ण रह जाने का कारण रही होगी। इस प्रकार 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' के बाद 'नवाब-खानखाना-चरित' लिखा गया होगा। 'जहाँगीरचरितम्' रुद्र कवि की अंतिम कृति होगी। इस विचार पर पहुँचने के और भी अनेक कारण हैं, जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

कवि का व्यक्तिगत परिचय

कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में उनकी कृतियों से या अन्य मार्गों से बहुत ही थोड़ा ज्ञात होता है। 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' से रुद्र कवि के पिता का नाम अनंत और पितामह का नाम केशव विदित होता है।[७] यहाँ इस बात पर जोर देना अनावश्यक है कि वे एक प्रकांड विद्वान् ब्राह्मण थे और देवी भगवती अंबिका के कृपापात्र एवं कवित्व-शक्ति-संपन्न थे (जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वंद्वार्चना-प्राप्तधीः)। रुद्र कवि के विषय में निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि वे नारायणशाह एवं उनके सुपुत्र प्रतापशाह, इन दोनों के सभा-कवि थे। कवि इसका

७—आसीत्कोऽपि महीमहेन्द्र-मुकुटालंकार-हीरावली-
तेजःपुञ्ज-नितान्त-रंजित-पदः श्री केशवाख्यो बुधः।
विद्वन्मण्डलमण्डनं समभवत्तस्मादनन्ताभिधः
तत्पुत्रो जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वंद्वार्चनाप्राप्तधीः ॥
······पंडितमंडलाम्बुजरविः श्री रुद्रनामा कविः। (रा० वं० म० २०।९७)

बारबार संकेत करता है। 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' नारायणशाह की आज्ञा से लिखा गया था,[8] और 'नवाब-खानखाना-चरित' प्रतापशाह की प्रेरणा से—

महाराजप्रतापशाहोद्योजित (प्रथमोल्लास के अंत में)।

श्रीमत्प्रतापशाहोद्योजित (द्वितीयोल्लास के अंत में)।

शाला-मयूराद्रि-पुरन्दर-प्रतापशाहोद्योजित (तृतीयोल्लास के अंत में)।

इनसे हम यह अर्थ लगाते हैं कि 'जहाँगीरचरित' भी प्रतापशाह की आज्ञा से लिखा गया होगा। बागुलान[9] या शालामयूराद्रि[10] के राठौर राजपूत राना प्रतापशाह की छत्रछाया में ये तीनों ग्रंथ नासिक के पास कहीं लिखे गए होंगे। उनकी रचना ई० १५९६ और १६०९ के बीच की मालूम पड़ती है। अतः उनका कार्य-काल सोलहवीं शताब्दी के अंत और सत्रहवीं शताब्दी के आदि में रहा होगा।[11]

८—रा० वं० म० की समाप्ति पर पुष्पिका—"इति श्रीमदखिलभूपाल-मौलि-मुकुट-ललाम-माला-मरीचि-वीची-चुम्बित-चरण-सरोज-मयूर-गिरि-केसरि-श्रीमहाराजाधिराज-श्रीनारायण-शाहोद्योजित-दाक्षिणात्य-रुद्रकवीन्द्र-विरचिते राष्ट्रौढवंशे विंशतितमः सर्गः।"

९—बागुलान के बागुला लोग अपने को कन्नौज के राठौर वंश के वंशज बतलाते हैं। बागुलान नासिक के आसपास का क्षेत्र कहलाता है। 'आइने-अकबरी' (१५९०) में वर्णित है कि यह पहाड़ी और घनी आबादी वाला प्रदेश है। यहाँ सात किले थे जिनमें मुल्हेर और सालेर (मयूर और शाला) बहुत मजबूत थे।

१०—नासिक गजेटियर में लिखा है कि मयूरगिरि ही मुल्हेर है। महाभारत-काल में ये किले मयूरध्वज और ताम्रध्वज के अधिकार में थे। सताना में मुल्हेर किला मुल्हेर गाँव से दो मील दूर एक पहाड़ी पर २००० फुट की ऊँचाई पर है। यह मालेगाँव से ४०० मील दूर उत्तर-पश्चिम में मुसाम घाटी के मुख पर अवस्थित है। सालेर किला बारह मील और आगे पश्चिम की ओर है।

११—कहा जाता है कि सूर्य पंडित या सूर्य दैवज्ञ, जो पूर्णतीर्थ के पास पार्थनगर का रहनेवाला था, हमारे रुद्र कवि का पूर्वज था। पार्थनगर गोदावरी के उत्तर तीर पर विद्यमान था। सूर्य ज्ञानराज का पुत्र और अनेक कृतियों का कर्ता था। उसका 'प्रबोधसुधाकर' नामक वेदांत-ग्रंथ बीस अध्यायों में छंदोबद्ध है। गीता पर 'परमार्थप्रपा' नामक टीका, 'रामकृष्ण-विलोम-काव्य' नाम का अनुप्रास-यमक-युक्त काव्य और 'कूपिका' उसके विख्यात ग्रंथ हैं। बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की हस्तलिखित-ग्रंथ-सूची (जिल्द ७, पृ० ३११) में

नारायणशाह और प्रतापशाह

नारायणशाह और प्रतापशाह (उसका पुत्र, जो रुद्र कवि का आश्रयदाता था) राठौर वंश के थे। हमारे कवि की कृति 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में इस वंश के विषय में अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक बातें दी हुई हैं। नारायणशाह भैरव-सेन का पुत्र और वीर(म)सेन का छोटा भाई था। जब वीरसेन मयूरगिरि पर शासन कर रहा था तब नारायण की ख्याति सुनकर बादशाह ने वीरसेन को दिल्ली बुलाकर उसका सम्मान किया, और इसी कारण वीरसेन की रानी दुर्गावती ने दोनों भाइयों में द्वेष-भावना का बीज बो दिया। जब इस कलहाग्नि का रूप भयंकर सा हो गया तब नारायण को मयूरगिरि छोड़ देने की आज्ञा हुई। इसपर नारायण-शाह ने वहाँ से निकलकर शालागिरि पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिनों में सारे गढ़ नारायण के अधीन हो गए। इसके उपरांत वह अपने ज्येष्ठ पुत्र[12] प्रताप को शालागिरि की रक्षा के हेतु छोड़ आप मयूरगिरि की ओर बढ़ा। वीरसेन का पक्ष त्यागकर लोगों ने नारायण की छत्रछाया ग्रहण की और उसे राजा एवं रक्षक घोषित किया।

नारायणशाह जैसे अनेक युद्धों का विजेता था वैसे ही धार्मिक भी था। उसने अनेक पवित्र तीर्थों की यात्रा की थी और ब्राह्मणों को दान दिया था। उसने देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं, तुलादान किया था और अग्निष्टोम आदि अनेक यज्ञ भी किए थे।

दैवज्ञ पंडित सूर्य के नाम पर एक 'नृसिंहचंपू' (सं० ५४१८) भी लिखा गया है। सूर्य दैवज्ञ का समय ई० १४००—१४५० के लगभग था, किंतु रुद्र कवि के किसी ग्रंथ में सूर्य दैवज्ञ का उल्लेख नहीं है। तथापि सूर्य के कुल में रुद्र कवि का उत्पन्न होना कोई असंभव बात नहीं है।

१२—श्रीनारायणनृपतेर्जयन्ति पुत्राश्चत्वारः प्रथम इह प्रतापशाहः।
तस्यान्वक् स हरिहरश्चतुर्भुजाख्यः तत्पश्चात्तदवरजस्तु राजसिंहः॥

लोक-लोचन-चकोर-सुधांशोः
श्री-प्रताप-नृपतेरपि सूनुः।
सार्वभौम-भजनीय-गुणानां
आस्पदं जयति भैरवसेनः॥ (रा० वं० म०, २०।६२)

नारायणशाह का व्यवहार दिल्ली के बादशाहों के प्रति मैत्रीपूर्ण था और दक्षिणी राज्यों में उसका आदर और आतंक था। अहमदनगर के बुरानशाह ने दक्षिणी प्रदेशों को जीतने के लिये उसकी सहायता ली थी। जब अकबर ने ई० १५९९ में खानदेश जीता था तब उसने बागुलान को लेने की कोशिश की थी; प्रतापशाह[13] के विरुद्ध उस समय सात वर्ष तक घेरा पड़ा रहा, पर अंत में अकबर को उससे संधि करनी पड़ी।

प्रतापशाह का संबंध जहाँगीर से अच्छा था। जहाँगीरनामा[14] में भी बागुलान देश की प्रशंसा की गई है; पुराने संबंधों की स्मृति स्पष्ट हो गई है और जहाँगीर ने अंत में यह भी कहा है कि उसने प्रतापशाह को तीन अंगूठियाँ, याकूत, हीरा और लाल दिए थे। जहाँगीर के संबंध में दो साधारण उल्लेख 'नवाब-खानखाना-चरित' में आते हैं—

(१) मनोहर-छत्र-चामर-मेघ-डम्बर-सुन्दर-भू-पुरंदर-साहि - जहाँगीर - नुरदीन - मुहमद-रत्नाकर··· ।

(द्वितीयोल्लास)

(२) तत्तदाकर्ण्याकब्बर-श्रीसुरत्राण-सुत्राम-पुत्राग्र्य-नुर्दीजहाँगीर - शाह - द्वितीय-प्रिय-प्राण-गीर्वाणनाथो··· ।

(तृतीयोल्लास)

'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में जहाँगीर का नाम आता ही नहीं और नवाब-खानखाना-चरित में दो बार आता है तथा पूरा 'जहाँगीर-चरित' अंत में आता है—यह इस बात का दिग्दर्शक है कि किस तरह प्रताप धीरे-धीरे जहाँगीर के संपर्क में आया और सुपरिचित बना। यह विचार अंत में अधिक स्पष्ट होगा।

नवाब खानखाना

रुद्र कवि की यह कृति 'नवाब-खानखाना-चरित' बैराम खाँ के सुपुत्र खानखाना मिर्जा खाँ अब्दुर्रहीम की वीरगाथा है। खानखाना एक प्रकार से अकबर के संबंधी थे। उनका जन्म ई० १५५४ के लगभग हुआ था और लालन-पालन राजकुमार की भाँति हुआ था। बड़े होने पर वे एक बड़े विद्वान् कवि और बहु-

---

१३—मुल्हेर के किले में गणेश-देवालय के पत्थर के खंभे में शकाब्द १५३४ (ई० १६१२) का मराठी में उत्कीर्ण एक शिलालेख इस विषय में प्राप्त है।

१४—मेमॉयर्स ऑव जहाँगीर, पृ० ३६६

भाषाविद् हुए। फारसी उनकी मातृभाषा थी, परंतु उर्दू और अरबी पर भी उनका प्रभुत्व था। वे हिंदी और संस्कृत भी अच्छी जानते थे।

हिंदी-संसार में वे 'रहीम' कवि नाम से विख्यात हैं और उनके दोहे अत्यंत लोकप्रिय हैं। कहा जाता है कि उनकी तुलसीदास से मित्रता थी और गंग कवि को उन्होंने बहुत बड़ा दान दिया था। स्वयं कवि होने के कारण वे सहृदय, उदार, दयालु और परोपकारी थे।

अकबर की सेना के वे एक विश्वासी सेनापति थे। मुजफ्फर गुजराती (५८३–६१) के विद्रोह-काल में खानखाना ने अकबर की अमूल्य सेवा की थी। उनकी नियुक्ति गुजरात में हुई और १५८४ में उन्होंने मुजफ्फर खाँ को हराकर कच्छ में भगा दिया। इसी सेवा के फलस्वरूप उन्हें 'खानखाना' की उपाधि मिली थी।[१५]

अकबर द्वारा रहीम को दी गई 'खानखाना' की उपाधि कुछ नई नहीं थी। अहमदशाह बहमनी को भी यही उपाधि उसके चाचा द्वारा मिली थी (१४२२–३५)। रहीम खानखाना की उपाधि जहाँगीर द्वारा छीन ली जाने पर नूरजहाँ ने महाबत खाँ को यही उपाधि दी थी।

खानखाना-चरितम्

सूक्ष्म रूप से विचार करने पर 'खानखाना-चरितम्' को न तो कथा कहा जा सकता है न आख्यायिका। साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम है। इसके खंड, उच्छ्वास न कहे जाकर उल्लास कहे गए हैं। इसमें आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र नहीं हैं, केवल लंबे छंद ही हैं जो कथा और आख्यायिका दोनों में पाए जाते हैं। बड़े बड़े समास इसमें विद्यमान हैं, जो दंडी के कथनानुसार गद्य का प्राण हैं। यह तो निश्चित है कि 'खानखाना-चरित' बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के ढंग पर रचा गया है। रुद्र कवि ने इसमें पांचाली रीति का अनुसरण किया है। इस ग्रंथ में शब्दार्थालंकारों की प्रचुरता एवं श्लेष की प्रधानता है। गद्य की सुंदरता

१५—रहीम कवि का युद्ध और सैनिकों के विषय में क्या मत था, यह निम्नलिखित दोहे से विदित होता है—

सबै कहावै लसकरी, सब लसकर को जाय।
रहिमन सेल्ह जोई सहै, सोई जगीरै खाय॥

के लिये पौराणिक उल्लेखों का उपयोग किया गया है। पद-पद पर लयबद्ध ध्वनि की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। श्लेष और अनुप्रास (जो रुद्र कवि के प्रधान अस्त्र हैं) के अतिरिक्त विरोध, निदर्शना, सहोक्ति आदि का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है।

शैली इसकी अवश्य ओजपूर्ण है, परंतु कथानक वा घटना कुछ ऐसी नहीं हैं जिससे वीररस का उद्रेक हो। केवल शब्दाडंबर और अतिशयोक्ति की ही प्रधानता है। कवि को अब्दुर्रहीम के विषय में अधिक ज्ञान नहीं है, इसलिये उसने कवि-संकेतों का सहारा लेकर कथा-नायक का रूढ़ शब्दों में वर्णन किया है।

प्रथमोल्लास का प्रारंभ निम्नलिखित श्लोक से होता है—

मन्ये विश्वकृता दिशामधिपता त्वय्येव संस्थापिता
यस्माज्जिष्णुरसि प्रभो शुचिरसि त्वं धर्मराजोऽप्यसि।
राजन्पुण्यजनोऽसि विश्वजनताधारप्रचेता जगत्-
प्राणस्त्वं धनदो महेश्वर इह श्री खानखान-प्रभो ॥

तदुपरांत खानखाना की प्रशंसा प्रारंभ होती है। जैसे—वे राजाओं के राजा हैं; संसार में अपने प्रचंड बाहुबल के लिये विख्यात हैं; उनकी कीर्ति आकाश और पाताल में परिव्याप्त है; वे धन, सौंदर्य, सद्गुण, पवित्रता, सामर्थ्य आदि के आगार हैं; उन्होंने सारे भारतवर्ष को—अंग, कलिंग, कुरुजांगल, मगध, गुर्जर मालव, केरल, केकय, कामरूप, कोशल, चोल, बंगाल, पांचाल, नेपाल, कुंतल, लाट, कर्णाट, पौंड, द्राविड़, सौराष्ट्र, पांड्य, काश्मीर, सौवीर, वैदर्भ, कान्यकुब्ज इत्यादि को—जीत लिया है; वे संधि-विग्रह-कला में निपुण हैं और अपना समय मृगया, क्रीड़ा, अध्ययन, अन्वेषण, गायन, चित्रकला आदि में व्यतीत करते हैं। निम्नलिखित उद्धरण से रुद्र कवि की उस गंभीर गरिमामयी शैली का पता चलता है जिसमें उन्होंने खानखाना का वर्णन, बिना किसी ऐतिहासिक तथ्य का अभास दिए, किया है—

द्वितीयः कलंकविकलः कुमुदिनीकान्त इव, स्वतंत्रस्तृतीय नासत्य इव, जलाभिभवन-स्तुरीयः पावक इव, निरस्तभुजंगमकरः पंचमो रत्नाकर इव, अकल्पित-वितरण-निपुणः षष्ठः कल्पद्रुम इव, अपरिमितसत्त्वः सप्तमः शक्र इव, सर्वत्र सर्वसमयगेयो मूर्तिमानष्टमः स्वर इव, सपक्षः स्वैराचारी नवमः कुलाचल इव, सकल-जननयनानन्द-निदानं परानधीनो दशमः निधिरिव...।

इसी प्रकार की अतिशयोक्ति से पूर्ण आठ छंदों से प्रथम उल्लास का अंत होता है।

द्वितीय उल्लास निम्नलिखित श्लोक से आरंभ होता है—

श्रीमानकल्पमहीरुहः किमवनौ किंवा स चिंतामणिः
किं कर्णः किमु विक्रमः किमथवा भोजोऽवतीर्णः परः।
इत्थं यत्र विलोकिते मतिमतां बुद्धिः समुज्जृम्भते
सोऽयं संप्रति खानखान-नृपतिर्जीयात् सतां भूतये॥

द्वितीय श्लोक में इस आशय का वर्णन मिलता है कि यह योद्धा सिंधुदेश का रहनेवाला है। शेष प्रास्ताविक छंदों में खानखाना की वीरता की प्रशंसा है। गद्य-भाग में निम्नलिखित प्रकार के वर्णन देखकर विदित होता है कि जिस चातुर्य से प्रसिद्ध बाणभट्ट ने भाषा-भामिनी का विलास प्रकट किया है उस चातुर्य में रुद्र कवि भी कम न था—

(१) यस्य च मनसि धर्मेण, तोषे धनदेन, रोषे कृतान्तेन, प्रतापे तपनेन, रूपे मदनेन, करे दिव्यद्रुमेण, वदने सरस्वतीप्रसादेन, बले मारुतेन...।

(२) यत्र च राजनि राजनीतिचतुरे चतुरर्णवमेखलमेदिनीमण्डलमखण्डं शासति विवादः षड्दर्शनेषु, सर्वमिथ्यावादो वेदान्तेषु, भेदवादस्तर्केषु, अविद्याप्राधान्यं पूर्वमीमांसायां (?), स्फोटाविर्भावो व्याकरणेषु, नास्तिकताचार्वाकेषु, महापातकोपपातकश्रवणं धर्मशास्त्रेषु, नयनाश्रूणि हरिकथाश्रवणेषु...।

(३) जय जय राजसमाजविभूषण, विदलितदूषण, गुणगणमन्दिर, मन्मथसुन्दर...।

(४) अपि च मदन इव नागरीभिः, तपन इव तपस्विभिर्दहन इव मनस्विभिः, शमन इव शत्रुभिः, पवन इव पथिकैः, स्वजन इव सुहृज्जनैः...।

इस उल्लास में खानखाना के घोड़े का लंबा वर्णन है। अंत के आठ श्लोक, जिनमें से एक यहाँ उद्धृत है, रुद्र कवि की कवित्व-शक्ति का परिचय कराते हैं—

कलिः कृतयुगायते सुरपदायते मेदिनी
सहस्रकिरणायते भुजयुगप्रतापोदयः।
यशो हिमकरायते गुणगणोऽपि तारायते
सहस्रनयनायते नृप-नवाब-वीराग्रणीः॥

चौथे और पाँचवें छंद में खानखाना की उदारता का वर्णन मिलता है। तृतीय उल्लास छोटा है। वह इस प्रकार आरंभ होता है—

विद्वन्मण्डलकल्पपादपवनं विद्योतिवाग्देवता-
संकेतायतनं नितान्त-कमलालीला-विलासायनम् ।
सर्वोधावनि चक्र-भाग्य-सदनं (?) भूमंडली-मंडनं
कीर्तेः केलिनिकेतनं विजयते श्रीखानखाना नृपः ॥

और उसी प्रकार के वीरत्व और औदार्य के वर्णन से समाप्त होता है।

ऐतिहासिक महत्त्व

इस प्रकार संपूर्ण कृति अलंकारपूर्ण गद्य और पद्य का सुंदर नमूना है। जैसा पहले कह आए हैं, उसमें ऐतिहासिकता का अभाव है। परंतु ग्रंथ-समाप्ति के पश्चात् अंतिम पुष्पिका में जो पाँच श्लोक आते हैं उनसे कुछ दूसरी ही ध्वनि निकलती है। वे ऐतिहासिकता से परिपूर्ण हैं—

त्वद्दोर्दण्डबलोपजीविकतया त्वामेव यो नाथते
त्वत्कल्याण परंपराश्रवणता पुष्टिं परां योऽश्नुते ।
दूरस्थोऽपि च यस्तवैव परितः प्रख्यातिमाभाषते
सोऽयं नार्हतु खानखान भवतः प्रीतिं प्रतापः कथम् ॥१॥

पूर्वं वीरपदेषु पुत्रपदवीमारोपितः श्रीमता
यद्याकब्बरसाह पार्थिवमणेरत्नं ततो भक्षितम् ।
सोऽयं तेन मुदा नवाब-चरणान् प्राप्तः प्रतापः पुनः
यत्ने संप्रति खानखान नृपते योग्यं तदेवाचर ॥२॥

सकलगुणपरीक्षणैकसीमा । नरपतिमंडलवन्दनीयधामा ॥
जगति जयति गीयमाननामा । गरिबनवाज नवाब खानखाना ॥३॥
बलिनृपबन्धनविष्णुर्जिष्णुः श्री खानखानायम् ।
अम्बर शम्बर मदनौ तनयौ मीरजी अली च दाराबौ ॥४॥

वीर-श्रीजहंगीर-साहि-मदन-प्रौढ-प्रतापोदय-
क्षुभ्यद्दक्षिण-दिक्कुरंगनयना-संसर्ग-सक्तात्मनि ।
क्षोणीमंडल खानखान-धरणीपाले तदीयाम्बर-
व्याक्षेपाय करं वितन्वति तया सानन्दया भूयते ॥५॥

ये श्लोक एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं,

जो यदि सत्य प्रमाणित हुआ तो उससे इस 'नवाब-खानखाना-चरित' का साहित्यिक के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी हमारे लिये कम न रहेगा।

१—पंचश्लोकी के प्रथम श्लोक से यह ज्ञात होता है कि बागुलान का राजा प्रतापशाह किसी संकट में पड़ा था और अब्दुर्रहीम खानखाना से उसने सहायता के लिये प्रार्थना की थी—(त्वामेव यो नाथते)। प्रतापशाह ने दिल्ली अर्जी भेजी थी और उसे खानखाना पर पूर्ण विश्वास था। प्रतापशाह उम्र में छोटा होने तथा कठिनाई बड़ी होने के कारण अब्दुर्रहीम की सहायता के योग्य पात्र था।

२—दूसरे श्लोक में मुल्हेर-दरबार और दिल्ली-दरबार की प्राचीन मित्रता के साथ इस बात का भी गुप्त संकेत है कि बागुलान का राजा दिल्ली के दरबार को कुछ कर देता था (अकब्बरसाह पार्थिवमणेरन्नं ततो भक्षितम्)। इसी प्राचीन मैत्री का विश्वास करके प्रतापशाह ने नवाब खानखाना से सहायता की याचना की थी।

३—तीसरे श्लोक में खानखाना को 'गरीबनिवाज' कहा गया है और यह भी कहा गया है कि संसार में इसी कारण उनकी ख्याति है।

४—चौथे श्लोक में रूपक की सहायता से यह दिखलाया गया है कि राजा प्रतापशाह कैसे संकट में था। 'बलिनृप-बंधन-विष्णुः'—बलवान् राजाओं का बंधन करनेवाला होने के कारण नवाब खानखाना को यथार्थ रूप से विष्णु कहा है। यहाँ इस रूपक की यथार्थता इसी रूप से सफल होती है कि खानखाना का जहाँगीर पर बहुत बड़ा प्रभाव था, और इतिहासज्ञों को यह भली भाँति ज्ञात है कि अकबर के समय से ही खानखाना की जहाँगीर पर विशेष प्रीति थी। जहाँगीर पर खानखाना की इस प्रीति को देखकर नूरजहाँ उनसे द्वेष करती थी। इसलिये, इस रूपक से जान पड़ता है कि जहाँगीर ने प्रतापशाह के लिये कुछ संकट खड़ा किया होगा। इसी से उसने मित्रतावश नवाब खानखाना से मदद माँगी होगी। विष्णु का रूपक पूर्ण करने के लिये खानखाना के दो पुत्रों का नाम मीर अली और दाराब दिया है।

५—पाँचवें श्लोक में जो रूपक है उससे यही बात और स्पष्ट हो जाती है। वीर सम्राट् जहाँगीर के बढ़ते हुए रोष ने कुरंगनयना दक्षिण-दिशा-सुंदरी को डरा-सा दिया था। क्षोणिमंडन खानखाना का हाथ उसके अंबर तक पहुँच जाता है तो वह प्रसन्न होती है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जहाँगीर ने दक्षिण में अपनी सेना इस दक्षिणी राजा को दबाने के लिये भेजी थी और बागुलान को मुगल

फौजों ने जीत लिया था। शायद मुल्हेर पर घेरा पड़ा था और इसी संकट में पड़ने के कारण प्रतापशाह ने खानखाना से सहायता माँगी थी।

'खानखाना-चरित' कदाचित उन्हीं के पास अर्जी (अंत की पंचश्लोकी) और उपहार के साथ भेजी गई हो। इसी लिये यह कहा जा सकता है कि ऊपर से सारहीन लगनेवाले इस प्रशस्ति-काव्य में कुछ ऐतिहासिक तथ्य अनिवार्य है। इसका एक और कारण यह हो सकता है कि खानखाना अब्दुर्रहीम स्वयं भी एक विख्यात कवि थे।

रुद्र कवि ने ऐसे कठिन समय में इस काव्य की रचना कर अपने आश्रय-दाता की बड़ी सेवा की। मुल्हेर का घेरा ई० सन् १६०६ के लगभग उठा दिया गया होगा और उसके बाद प्रतापशाह ने रुद्र कवि को बादशाह जहाँगीर की प्रशस्ति लिखने का हुक्म दिया होगा, जिसके फलस्वरूप 'जहाँगीर-चरितम्' काव्य बना।

अहमदनगर का युद्ध

ग्रंथ-समाप्ति के उपरांत जो पाँच श्लोक आए हैं उनमें दूसरा श्लोक "पूर्वं वीरपदेषु पुत्रपदवीमारोपितः श्रीमता"—इस वाक्य से आरंभ होता है। इससे यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि प्रतापशाह पहिले खानखाना द्वारा 'वीर' और फिर 'पुत्र' क्यों कहा गया? इसके लिये हमें रुद्र कवि विरचित 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में वर्णित अहमदनगर के युद्ध का संदर्भ देखना होगा। मुसलमान लेखकों के आधार पर स्मिथ ने जो वर्णन दिया है उसमें इसका उल्लेख स्पष्ट नहीं होता। अकबर की ओर से बागुलान-नृप प्रतापशाह का अहमदनगर के युद्ध में लड़ना प्रचलित इतिहासों में नहीं पाया जाता। ब्रिग्ज[१६] और अन्य इतिहासज्ञों[१७] द्वारा दिया हुआ अहमदनगर-युद्ध का वृत्त यह है—

"सन् १५९३ में अकबर ने अहमदनगर के शासक बुरहानुलमुल्क के विरुद्ध युद्ध घोषित किया, क्योंकि वह स्वाधीनता चाहता था, दिल्ली-दरबार के अधीन रहना नहीं चाहता था।

१६—फरिश्ता, ३, २९२–३०४

१७—अकबर, दि ग्रेट मुगल (वी० स्मिथ), पृ० २४९, २६६; हिस्टारिकल लैंडमार्क्स ऑव द डेकन, पृ० १७२–७३

"सन् १५६५ में बुरहानुलमुल्क के बाद इब्राहीम गद्दी पर बैठा। इसके उपरांत राजधानी अहमदनगर राज्य-कलहों के संघर्ष का केंद्र बन गया। आपसी वैमनस्य इतना बढ़ गया कि एक पक्ष ने अकबर के द्वितीय पुत्र मुराद से सहायता माँगने की भयंकर भूल की। मुराद उस समय गुजरात का शासक था। इस घटना से दिल्ली के बादशाह को दक्षिणी राज्य-कलह में हाथ डालने का अवसर मिला। अकबर ने ७०,००० अश्वसेना का सेनापति बनाकर खानखाना को दक्षिण भेजा। शाहजादा मुराद को खानखाना से मिलने का आदेश दिया गया।

"मुराद और खानखाना की फौजों में विवाद उपस्थित हो गया। मुराद की इच्छा थी कि हमला गुजरात की ओर से हो, परंतु खानखाना का कहना था कि हमला करने के लिये सेना मालवा से उतरे। अंत में दक्षिण की ओर बढ़ती हुई फौजें बरार पहुँच गईं और वहाँ से राजधानी अहमदनगर पहुँचकर घेरा डाला गया।

"जिन लोगों ने शाहजादे को बुलवाया था उन्हें अब अपनी भूल मालूम हुई। कुछ दिनों तक फिर सभी दलों ने मिलकर आक्रमणकारी का मुकाबला किया। सुलतान चाँदबीबी की बहादुरी के कारण आक्रमणकारियों को सफलता न मिल सकी और बीजापुर के नपुंसक सेनापति सुशील खाँ ने मुगल सेनापतियों को संधि-प्रस्ताव भेजने के लिये संदेश दिया। सन् १५६६ में संधि हुई जिसके अनुसार अहमदनगर-राज्य से बरार का इलाका अकबर के साम्राज्य में चला गया।"

दूसरा वर्णन—'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' के बीसवें सर्ग में हमें इसी अहमदनगर के युद्ध का कुछ दूसरा ही वर्णन मिलता है—

"निजामशाह के राज्य को जीतने के लिये अकबर के पुत्र मुराद की सेनाओं ने प्रस्थान किया। अकबर ने नारायणशाह को एक पत्र लिखा और एक सफेद घोड़े के साथ भेजा। उसमें नारायणशाह को मुराद की सहायता करने को लिखा था। नारायण ने मुराद को साथ ले लिया। कुछ ही दिनों के बाद प्रतापशाह भी साथ हो गया। इसके बाद शत्रु की शक्ति का पता लगाने का निश्चय हुआ।

"वर्षा ऋतु के बाद प्रताप अपनी सेना लेकर मुराद से जा मिला। संयुक्त सैन्यदल शत्रु-मंडल (जालन इलाके में) में प्रवेश करने लगे। खानखाना और खानदेश के मीर राजा अली खाँ बाद में आ मिले। खानखाना ने मुराद से मीर को सेनापति बनाने को कहा, परंतु मुराद ने अस्वीकार कर दिया, क्योंकि प्रताप पहिले

से ही सेनापति बनाए जा चुके थे। अहमदनगर पर घेरा डाल दिया गया। प्रताप इतनी बहादुरी से लड़े कि मुगल सेनानियों के छक्के छूट गए।[१८]

"अहमदनगर के किले पर हमला किया गया।[१९] दुर्ग के रक्षकों ने आत्म-समर्पण कर दिया और विराट् (विदर्भ, वैराट) राज्य लेकर लौट जाने की प्रार्थना की।[२०] विजयी सेना ने बरार के बालापुर नगर में बरसात भर के लिये डेरा डाल दिया और खानखाना और शाहजादा मुराद से आज्ञा लेकर प्रतापशाह मयूरगिरि आ गए। यही वह अवसर था जब प्रताप ने खानखाना की कृपा-दृष्टि पाई थी और प्रताप की वीरता खानखाना को मुग्ध कर सकी थी।"

सारांश

(१) इस ग्रंथ का वास्तविक उद्देश्य प्रतापशाह के लिये खानखाना का सहयोग और सैनिक सहायता प्राप्त करना था, किंतु ग्रंथकार ने एक अपूर्व कवित्वपूर्ण ढंग से इस लक्ष्य का गोपन कर सुंदर चंपूकाव्य की रचना की, अर्थात् उक्त उद्देश्य को काव्य के आवरण में उपस्थित किया।

(२) साथ ही अकबर के शासनकाल के इतिहास की रचना के लिये राष्ट्रौढ-वंश महाकाव्य का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि उसमें दक्षिण को अधीन करने के विषय में अकबर के मंसूबे दिखलाए गए हैं।

१८—अथ शाहमुराद भूमिपालो मुदितः प्राह वचः प्रतापशाहम्।
विजितैव न केवलं त्वया भूरपि पीयूषसगोत्रकीर्तिधौता ॥ (२०।६७)
सत्यं त्वमसि गांगेयः क्षितावेकमहारथः।
विगणय्य गणास्त्राणि यदेको हतवान् रिपून् ॥ (२०।६६)

१६—ततः परं शाहमुराद वीरप्रतापभूमीपति खानखानाः।
प्रत्येकमातन्वत तत्र दुर्ग-प्राकार-पाताय महासुरंगान् ॥ (२०।७२)

२०—ततः परं रम्यमुपायनीयमानीय नानाविध वस्तुजातम्।
अनन्यगत्यात्मविदो विपक्षा वीरत्रयीं तां शरणं ययुस्ते ॥ (२०।७७)
प्रदीयतां संप्रति केवलं नः सौराज्यमेतत्प्रथमं प्रवीराः।
तद्ग्राह्यमार्यैस्तु विराटराज्यं तानाहुरेवं रिपवः शरण्यान् ॥ (२०।७८)

कामायनी-दर्शन

[ले० श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव]

प्रसाद जी की कामायनी पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है, परंतु वह सब उसके अंतस्तल में पैठने के प्रयत्न की पूरी भूमिका भी नहीं है। कामायनी की टीकाएँ भी लिखी गई हैं, पर वे पर्याप्त नहीं कही जा सकतीं। बात यह है कि कामायनी में प्रसाद का दृष्टि-विंदु जब तक भली भाँति पकड़ में न आ जाय, तब तक उसकी सम्यक् टीका या उपयुक्त व्याख्या हो ही नहीं सकती; यों प्रत्येक अनुशीलक को उसकी सूझ-बूझ के अनुसार कुछ न कुछ उसमें से निंदा या स्तुति के लिये मिलता ही रहेगा। ऐसे विद्वानों की बात मैं नहीं कह सकता जो कामायनी के स्तर तक उठने का प्रयत्न ही नहीं करते और अपने अभाव को प्रसाद पर आरोपित करते हैं, परंतु प्रसाद के सहृदय पाठकों और कामायनी-रसिकों के लिये तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि कामायनी में प्रसाद की जीवन-दृष्टि उनकी प्रतिभा के रस में उनके अनुभव की निर्धूम आँच पर खूब सीझकर पगी है; उसमें वह भारतीय संस्कृति विषयक उनके अध्ययन-मनन के नवनीत के रूप में आई है; वह उनके आजीवन तप का पूर्ण परिपक्व फल है। हम यहाँ उनके दार्शनिक विचारों के क्रम-विकास पर विचार न कर इस लघु लेख को कामायनी के ही भीतर सीमित रखेंगे।

प्रसाद के मर्मज्ञों ने ठीक ही लक्ष्य किया है कि वे शैव थे, और कामायनी में शैव-सिद्धांत ही व्यापक हैं। परंतु मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसाद के शैव-सिद्धांत किसी गुरु-मंत्र, शिवालय या ग्रंथ-विशेष तक सीमित नहीं थे, न उन्होंने आँख मूँदकर किसी परंपरा का अनुसरण किया। प्रसाद जी अतीत और वर्तमान दोनों के प्रति पूर्ण जागरूक थे और दोनों में उनकी समान निष्ठा थी, परंतु बिना विचार के वे किसी एक को ग्रहण करने के लिये आतुर न थे। वस्तुतः वे अतीत, वर्तमान और भविष्य में अखंड रूप से प्रवाहित होनेवाली किसी अविच्छिन्न चिंतन-धारा की खोज में थे (और अंत में उन्हें उसका दर्शन कामायनी में मिला), परंतु

उनके जैसे मननशील तत्त्वान्वेषी कवि के लिये बिना अपने अनुभव की आँच में तपाए सभी कुछ को सोना मान लेना सहज न था।

प्रचलित शैव मत, जिसके प्रभाव में संभवतः वे पले, भेद अथवा द्वैतवाद है। द्वैत, सगुण और मूर्त के बीच ही उत्पन्न होने और जीवन बिताने के कारण स्वभावतः उसी की सत्यता में हमारा पूर्ण विश्वास होता है; प्रसाद जी का भी था। उनके जैसा छककर जीवन का रस पीनेवाला कवि इस द्वैतमय व्यवहार-जगत् की उपेक्षा कैसे कर सकता था? परंतु इस जाने-पहचाने सूक्ष्म-स्थूल जगत् का संपूर्ण रस पान कर लेने पर भी तो भीतर की प्यास बुझ नहीं पाती! संपूर्ण समृद्धि, संपन्नता एवं भोग के बीच भी कोई अवसाद, कोई चिंता, कोई तड़प हृदय को रह-रहकर मथ दिया करती है। चित्त किसी की खोज में व्याकुल हो जाता है, यद्यपि उसे पहचान नहीं पाता—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
यह सब क्या छाया उलझन है?
सुंदरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है?
मेरी अक्षय निधि तुम क्या हो
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?
उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

(कामायनी, 'काम' सर्ग)

कौन-सा वह अमृत है जिसकी एक घूँट[1] के लिये कवि को इतनी प्यास? और है कहाँ वह अमृत? क्या देवताओं के स्वर्ग में? नहीं, स्वर्गीय सुधा की मरीचिका से प्रसाद को नहीं बहलाया जा सकता। तो क्या वह बुद्ध की करुणा में है? निश्चित जान पड़ता है, उसने प्रसाद को कम नहीं ललचाया। परंतु क्या दुनिया दुःख ही दुःख है? अपना और अपनों का दुःख यों ही कम नहीं, तिसपर विश्व भर का दुःख! जो थोड़ा-बहुत आनंद मिलता है उसे भी छोड़ दुःख ही की चिंता में पीले पड़े रहे, यहाँ तक कि वस्त्रादि भी उसी चिंता की पीली ध्वजा फहराते रहें? जान पड़ता है यह बात भी प्रसाद के मन में जमी नहीं। तो फिर क्या इस दुःख

१—प्रसाद, "एक घूँट"

की 'उपेक्षा' की जा सकती है ? आनंद सत्य है। सत्-चित्-आनंद मोहक शब्द हैं। परंतु दुःख की उपेक्षा के लिये यदि 'जगन्मिथ्या' कहें, तो मिथ्या जगत् का दुःख ही नहीं, आनंद भी मिथ्या है ! दुःख और आनंद दोनों तो प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। तब जगत् मिथ्या कैसे ?

कठिन पहेली है। आनंद ही तो वह वस्तु है जिसे लेकर जगत् में जिया जाता है। यदि इंद्रियों का, विषयों का, सुख तुच्छ है, तो फिर श्रेष्ठ क्या है ? और यदि ऐहिक सुख श्रेष्ठ और पवित्र है, तो इस प्यास, इस अतृप्ति का क्या रहस्य है ? ज्यों-ज्यों सुलझाने की कोशिश करें, पहेली उलझती ही जाती है।

तत्त्वान्वेषी प्रसाद के लिये द्वैतमय दृश्य जगत् अनुभूत सत्य था; और उसके आनंद का आकर्षण भी, जिसकी उपेक्षा उन्हें असह्य थी। 'दुनिया भाँड़ा दुख का' वे मानने को तैयार न थे। इसका मूल तो आनंद ही होना चाहिए, जिसके पीछे दुनिया पागल है। उस अमृत आनंद की खोज में प्रसाद जी बराबर लगे रहे जिसका आभास मात्र भी अन्य सब-कुछ को भुलवा देने में समर्थ होता है। अनेक मुनि-मनीषियों ने उसके दर्शन के प्रयत्न में अनेक दर्शनों की रचना कर डाली है—उनकी भी झाँकी प्रसाद ने ली। परंतु वे (दर्शन) उसके रहस्य को खोलने के बदले उसके आवरण ही बनते गए—

> सब कहते हैं खोलो खोलो
> छवि देखूँगा जीवन धन की।
> आवरण स्वयं बनते जाते
> है भीड़ लग रही दर्शन की ॥

प्रसाद जी उस सत्य की खोज में थे जो इस दृश्य जगत् में छिपा हुआ इसका मूल है। परंतु उस (तत्) को ग्रहण कर वे इस (इदम्) का त्याग करना नहीं चाहते थे, क्योंकि यह उनका प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य था। उन्होंने अनुभव किया कि उस मूल सत्य की खोज में इस संसार के त्याग का उपदेश, 'उस' और 'इस' के बीच भारी भेद की कल्पना, शुष्क तर्क का ही परिणाम है; सत्य तर्क या दिमागी कसरत से नहीं, अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है (नैषा तर्केण मतिरापनेया)—

> और सत्य यह एक शब्द तू
> कितना गहन हुआ है।

मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है ॥
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है ।
किंतु स्पर्श से तर्ककरों के
बनता छुईमुई है ॥

(कामा०, 'कर्म' सर्ग)

संसार को मिथ्या कहकर उसका त्याग इष्ट नहीं, परंतु पशु का सा भोग भी दुःख-पाश में बाँधने ही वाला है। बुद्धिवाद या प्रज्ञावाद से पशुता दूर नहीं होती, वे तो मनोनुकूल तर्क उपस्थित करके उसकी पुष्टि ही करते हैं—

मन जब निश्चित सा कर लेता
कोई मत है अपना ।
बुद्धि दैवबल से प्रमाण का
सतत निरखता सपना ॥

× × ×

सदा समर्थन करती उसका
तर्कशास्त्र की पीढ़ी ।
ठीक यही है सत्य ! यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी ॥

(वही)

पशु भोगो के सामने सदा श्रुतियों (कामायनी में श्रद्धा के उत्साह-वचन एवं काम-प्रेरणा) के भ्रांत अर्थ ही सामने आते हैं।

प्रसाद जी श्रद्धाविहीन बुद्धिवादी न थे, प्रत्यक्ष अनुभूतियों के लिये उन्हें तर्क की आवश्यकता न थी । श्रद्धायुक्त मनन द्वारा अंत में उन्होंने सारी उलझनों का रहस्य भेदकर वह दर्शन पा ही लिया जिसमें मूर्त और अमूर्त, द्वैत और अद्वैत, बुद्धि और हृदय, विश्व और व्यक्ति का कोई विरोध न था। शक्ति के बिखरे हुए विद्युत्कणों का समन्वय कर उसमें मानवता को विजयिनी देखने का संकल्प—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय ॥
(कामा०, 'श्रद्धा' सर्ग)

कम से कम अपनी काव्य-कृति में उन्होंने पूरा कर लिया। इसी समन्वय में उस समरस आनंद अमृत की प्रतिष्ठा थी जो मानव-जीवन का महान् लक्ष्य है। फलस्वरूप हम कामायनी में 'चेतना का वह सुंदर इतिहास' पाते हैं जो वैदिक काल से आज तक आर्य-चेतना का ही इतिहास नहीं, मानव-चेतना का नित्य इतिहास है।

कामायनी में प्रसाद के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने परंपरया भिन्न रूपों में गृहीत विचारधाराओं का सुंदर संगम ढूँढ़ निकाला है। वेद, ब्राह्मण और तद्वर्णित कथाओं की व्याख्या ऐतिहासिकों, नैरुक्तों और याज्ञिकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में की गई। ऐतिहासकों ने उन्हें इतिहास माना, नैरुक्तों ने निरुक्ति द्वारा उनका आध्यात्मिक या सांकेतिक अर्थ लिया, याज्ञिकों ने उन्हें केवल यज्ञ के निमित्त मंत्रों के रूप में ग्रहण किया। प्रसाद जी उन्हें इतिहास ही मानते हैं। देवों और असुरों का वर्णन उनकी दृष्टि में आर्य जाति का इतिहास ही है। परंतु इतिहास की स्थूल भौतिक घटनाओं को वे भाव या चेतना से भिन्न करके नहीं देखते। भाव के रूप ग्रहण करने की चेष्टा ही तो सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है—

आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं।...उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किंतु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है। (कामायनी, भूमिका)

यहाँ कितने कौशल से जड़ और चेतन, मूर्त और अमूर्त, स्थूल और सूक्ष्म, चिरंतन और क्षणिक को, एक कर दिया गया है! यह है प्रसाद जी का 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सीधा सा उत्तर, या अर्थ। अन्य अर्थ, अति भोग वा अति त्याग का समर्थन करनेवाले, भ्रांत अर्थ हैं। उपनिषद् स्पष्ट कहती है—

द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (बृ० २।३।१)।

सत्य तो एक ही है। चिरंतन और क्षणिक, व्यक्त और अव्यक्त, क्षर और अक्षर (गीता ८।१,२) उसी के रूप हैं। फिर दोनों में भेद कैसा ? तत्त्व के एकत्व की यह अनुभूति प्रसाद जी की सबसे बड़ी उलझन सुलझानेवाली थी और वह कामायनी में आदि से अंत तक सूत्र रूप में पिरोई हुई है। आरंभ ही में संकेत है—

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन॥

(कामा०, 'चिंता' सर्ग)

यह उल्लेख कथा का स्वाभाविक अंग होते हुए भी बिना किसी विशेष अभिप्राय के नहीं हो सकता। उपनिषद् तो एक तत्त्व के एकत्व-दर्शन का महत्त्व बतलाती ही है—तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईश० ७); शैव तंत्र के अनुसार भी जल और हिम (के एकत्व) का रहस्य जो जान लेता है उसके कर्म-बंधन कट जाते हैं और उसका पुनर्जन्म नहीं होता—

जलं हिमं च यो वेत्ति गुरुवक्त्रागमात्प्रिये।
नास्त्येव तस्य कर्तव्यं तस्यापश्चिम जन्मता॥

जल और हिम की एकतत्त्वता जड़ और चेतन, व्यक्त और अव्यक्त के इसी एकत्व का निदर्शन मात्र है।[2]

हम आगे देखेंगे कि प्रसाद जी को अपनी मनोनीत वस्तु सुविकसित रूप में उनके शैव दर्शन में ही मिल गई और कामायनी में उसके स्पष्ट दर्शन मिलते हैं। परंतु पहली बात यह है कि वह शैव दर्शन द्वैत दर्शन नहीं, कश्मीरी अभेद-दर्शन, 'त्रिक' अथवा 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन है; दूसरे उन्होंने केवल उसी पर अवलंबित न रहकर ऋग्वेद के 'एक' (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति), ईशोपनिषद् के 'एकत्व' (एकत्वमनुपश्यतः) और छांदोग्य के आनंद और भूमा को उक्त अभेद-दर्शन के प्रकाश में शाक्त तंत्रों के सामरस्य के साथ मिलाकर स्वस्थ दृष्टि से एक धारा के रूप में देखा है और भ्रांत अर्थ से बचने की कोशिश की है; क्योंकि वे जानते थे

२—कबीर को भी इस एकत्व का ज्ञान हुआ था—'अब हम एक एक करि जाना'।

कि मूर्ख लोग श्रुति-वाक्य का भ्रांत अर्थ कर कैसा अनर्थ करते हैं। श्रुति ने निदर्शन के रूप में कहा—

...यद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं एवमेव अयं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्य एतदाप्तकामं...। (बृ० ४।३।२१)

और मूर्खों ने उसे विधि वाक्य मान लिया—

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम्॥

मनु के सामने भी भ्रांत अर्थ ही उपस्थित हुए थे जो अनर्थ के कारण हुए[३]—

श्रद्धा के उत्साह वचन फिर काम प्रेरणा मिल के
भ्रांत अर्थ बन आगे आए बने ताड़ थे तिल के॥

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकत्व, आनंद, भूमा और सामरस्य को उन्होंने तर्क और पोथियों की दूर से नमस्कार करने योग्य वस्तु न मानकर उन्हें सामान्य मानव-जीवन में अनुभाव्य घोषित किया। यह उनकी अपनी प्रतिभा की विशिष्टता थी।

समरसता का कामायनी में क्या महत्त्व है यह निम्नलिखित उद्धरणों से व्यक्त होता है—

१—नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान।

(श्रद्धा सर्ग)

२—समरसता है संबंध बनी
अधिकार और अधिकारी की।

(इड़ा सर्ग)

३—सबकी समरसता कर प्रचार
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

(दर्शन सर्ग)

३—कबीर भी इस प्रकार के भ्रांत अर्थ से अपने को सावधान किया करते थे—'माया मोहे अर्थ देख करि काहे को भरमाना'।

४—शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ हैं।
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है॥

५—समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था॥

(वही)

यह समरसता अखंड आनंद रूप है। सामरस्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'स्त्री पुंयोगात्यत्सौख्यं तत्सामरस्यं'। परंतु यह स्थूल सामरस्य सूक्ष्म का प्रतीक या निदर्शन मात्र है। मनुष्य में ज्ञान, इच्छा, क्रिया क्रमशः सत्व रज और तम के रूप हैं। ये जब पृथक् बिखरे हुए रहते हैं तब मनुष्य मनु की भाँति असफल और अशांत चित्त होकर भटकता है। उसकी कोई इच्छा पूरी नहीं होती—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की॥

('रहस्य' सर्ग)

परंतु श्रद्धावान् पुरुष में जब ज्ञान, इच्छा और क्रिया के तीनों विंदु परस्पर मिल जाते हैं तब वह 'दिव्य अनाहत पर निनाद में तन्मय' होकर सामरस्य का, अखंड आनंद का, अनुभव करता है। तंत्रों में ज्ञान, इच्छा, क्रिया का यह त्रैपुर-त्रिकोण या त्रिपुर-सिद्धांत कामकला का रूप है और त्रिपुरसुंदरी देवी के रूप में इसकी उपासना विहित है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के तीन विंदुओं का वर्ण क्रमशः श्वेत, रक्त और श्याम (वा मिश्र) कहा गया है। इन्हीं रंगों में प्रसाद जी ने भी तीन लोकों के रूप में इनका वर्णन कर त्रिपुर का उल्लेख किया है—

यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन विंदु ज्योतिर्मय इतने।

(वही)

परंतु मुश्किल यह है कि अ-श्रद्धा के कारण प्रसाद जी के भी रहस्य और आनंद का 'भ्रांत अर्थ' ही प्रायः विद्वानों के सामने आता है, अन्यथा देखा जा सकता कि इस कामकला के सामरस्य का रहस्य प्रसाद जी ने छांदोग्य उपनिषद् से भी खोल दिया है—

> जिसे तुम समझे हो अभिशाप
> जगत की ज्वालाओं का मूल।
> ईश का वह रहस्य वरदान
> कभी मत उसको जाओ भूल ॥
> विषमता की पीड़ा से त्रस्त
> हो रहा स्पंदित विश्व महान्।
> यही सुख दुख विकास का सत्य
> यही भूमा का मधुमय दान ॥
> ('श्रद्धा' सर्ग)

यह 'भूमा' क्या है ?—

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति...। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतं, यदल्पं तन्मर्त्यं, स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति यदि वा न महिम्नीति ॥ गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति हिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥

···अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।···एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति···॥ (छां० ७। २३, २४, २५)

सारांश यह कि 'भूमा' ही सुख है, अमृत है; 'अल्प' में सुख नहीं, वह मर्त्य है। 'भूमा' कहाँ प्रतिष्ठित है? अपनी महिमा में। महिमा का अर्थ यहाँ हाथी-घोड़ा-सोना-चाँदी-भूमि-दास आदि ऐश्वर्य नहीं। महिमा तो वह है जिसमें अनुभव हो कि नीचे-ऊपर-आगे-पीछे-दाहिने-बाँए सर्वत्र और सब मैं ही हूँ; संपूर्ण विश्व मेरा ही रूप है। ऐसा जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्मानंदी स्वराट् है। इसी से प्रसाद ने कहा—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता !!

('आनंद' सर्ग)

मनु को श्रद्धा की सहायता से इसी 'भूमा' (अभेद, सामरस्य) की प्राप्ति हुई थी—

× × ×

बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया !!
हम अन्य न और कुटुंबी
हम केवल एक हमी हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है !!

(वही)

कामायनी में इस अभेद की, पूर्णकाम अवस्था की, प्राप्ति को ही मानव का लक्ष्य स्थिर कर मनु और श्रद्धा की कथा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की गई है। इसकी दार्शनिक भूमिका हमें त्रिक-शास्त्र में उपलब्ध होती है, अतः उसका थोड़ा सा परिचय यहाँ देना आवश्यक है।

तीन प्रकार के दर्शनों—अभेद, भेद, भेदाभेद—में त्रिक अभेद-शास्त्र है; यह केवल एक तत्त्व को मानता है, जिसमें जड़ और चेतन का भेद नहीं है। इसमें शिव-शक्ति-अणु (जीव), इन तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है, इससे यह 'त्रिक' कहलाया। त्रिक-साहित्य के तीन भाग हैं—आगम, स्पंद और प्रत्यभिज्ञा। आगमों में तंत्र भी हैं। त्रिक के पहले के तंत्रों में से अनेक द्वैत या भेद के प्रतिपादक हैं। अद्वैत की शिक्षा देने के लिये शिवसूत्रों का दर्शन वसुगुप्ताचार्य (वि० नवीं शती) को हुआ। ये ही त्रिकदर्शन के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। शिव-सूत्रों को रहस्यागम भी कहते हैं। 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' में ये सूत्र संकलित हैं। इनमें जीव तथा उसके बंध और मोक्ष का विवेचन है। मोक्ष के उपाय

तीन प्रकार के हैं—शांभव, शाक्त, आणव। ये तीन उपाय संभवतः तीन प्रकार के मानसिक स्तर के लोगों के लिये हैं। लक्ष्य तीनों का एक ही है।

त्रिक-दर्शन अद्वैतवादी होने पर भी उसमें दृश्य जगत् केवल नामरूप नहीं है। वह न असत् है न अनिर्वचनीय। वह परमशिव का ही रूप है, अतः उसके समान ही सत्य है। परमशिव को वेदांत का ब्रह्म या आत्मा समझिए। चित्, चैतन्य, परा संवित्, परमेश्वर आदि भी उसके नाम हैं। वह अभावरहित, परम-भाव-रूप, अपने आप में पूर्ण है। वह अनादि और अनंत है; सर्वव्यापक भी है और सर्वातीत भी। वह अपनी शक्ति से संयुक्त शिव है, अथवा यह कहिए कि उसमें शिव-शक्ति अभेद रूप से हैं। शक्ति पाँच प्रकार की है—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पंचशक्ति-संपन्न यह एक ही शिव-तत्त्व अपनी इच्छा से, बिना किसी दूसरे तत्त्व के, स्वयं विश्व रूप में प्रकट होता है। 'शिवसूत्र-विमर्शिनी का प्रथम ही सूत्र है—'चैतन्यं आत्मा'। चैतन्य का अर्थ है 'सर्व ज्ञान क्रिया संवाधमय परिपूर्ण स्वातंत्र्य', और 'स्वातंत्र्य' स्वात्म-विश्रांति के कारण आनंद-रूप है। इस प्रकार आत्मा (शिव) सकल अभावरहित परिपूर्ण आनंद-रूप है। परंतु अपने ही इच्छाजन्य अभावों की कल्पना से वह स्वयं बंध में पड़ जाता है। 'ज्ञानं बंधः' दूसरा सूत्र है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ है आत्मस्वरूप का गोपन करनेवाला, अनात्म को आत्म से भिन्न समझानेवाला (अतः अभाव का अनुभव करानेवाला) अपूर्ण ज्ञान अथवा अपूर्ण अहंता। यही भेद-ज्ञान आत्मा के बंध का कारण है, यही 'शिव' को 'पशु' बनाता है। जब पशु (जीव) को पुनः अपने अभिन्न अखंड अभाव रहित पूर्ण स्वरूप की अनुभूति होती है तब वह चिच्छक्ति-संयुक्त आनंद-रूप शिव हो जाता है। मनु ने अपने अकेलेपन में अपनी अपूर्णता का, अभाव का, अनुभव किया था—

> कब तक और अकेले कह दो
>
> 　　　　हे मेरे जीवन बोलो।
>
> किसे सुनाऊँ कथा कहो मत
>
> 　　　　अपनी निधि न व्यर्थ खोलो॥

उन्होंने विश्व को अपने से भिन्न समझकर उसपर आधिपत्य चाहा। उनकी इच्छाएँ बढ़ती गईं, बंधन भी बढ़ता गया, पर इच्छाएँ पूर्ण न हुईं, निराशा ही निराशा मिली। अंत में, जिस श्रद्धा को उन्होंने त्याग दिया था उसी की

सहायता से पूर्णता की, भूमा की, सामरस्य की अथवा विश्व से अभेद की अनुभूति होने पर पुनः उन्होंने अखंड आनंद का अनुभव किया।

त्रिक-दर्शन के अनुसार परमशिव से विश्व की रचना उसी की अनुभूति वा इच्छा-शक्ति के विस्तार द्वारा होती है—सृष्टि उसकी शक्ति का विस्तार है। इस शक्ति-विस्तार को 'आभासन', 'उन्मेष' या 'उन्मीलन' भी कहते हैं। अपने पूर्ण स्वरूप को विस्मृत कर एकाकीपन में अभाव का अनुभव कर जब वह 'सुखद द्वंद्व' चाहने लगता है, 'बहुस्याम' की कामना करने लगता है, तब 'इदम्' (विश्व) धीरे धीरे पृथक् रूप में उसके सामने उपस्थित होता है, उसे अनुभूत होता है। अपनी अपूर्ण अहंता में वह उसे अपने से पृथक् मान लेता है। फिर क्रमशः उससे ३६ तत्त्वों का विकास होता है। परंतु वह स्वयं तब भी अखंड बना रहता है, और प्रत्येक तत्त्व में व्यापक भी। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) अभाव का अनुभव होने पर पहले पाँच तत्त्व स्फुट होते हैं—शिव (चित्), शक्ति (आनंद), सादाख्य (इच्छा), ईश्वर (ज्ञान), सद्विद्या (क्रिया)।

(२) इसके बाद माया और उसके पाँच कंचुकों का आविर्भाव होता है। पाँच कंचुक हैं—काल, नियति, राग, विद्या, कला। यहाँ चैतन्य पर माया का आवरण पड़ जाने से उसका नित्यत्व, सर्वव्यापकत्व, पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व और सर्व-कर्तृत्व सीमित हो जाता है। उक्त कंचुक उसकी नियंत्रित शक्ति ही हैं।

(३) फिर शिव-शक्ति पुरुष और त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप धारण करते हैं। पुरुष और प्रकृति तथा अन्य २३ तत्त्व—बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेंद्रियाँ, पंच कर्मेंद्रियाँ, पंच तन्मात्र तथा पंच महाभूत—ज्यों के त्यों सांख्य के ही २५ तत्त्व हैं।

एक ही तत्त्व से क्रमशः अन्य तत्त्व विकसित होते हैं और अंत में छत्तीसवें पृथ्वी तत्त्व तक पहुँचकर परम शिव ३६ तत्त्वों के अणु-रूप में व्यक्त होता है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक अणु, ३६ तत्त्वों से युक्त परम-शिव ही हैं—आत्म-विस्मृत, बंध में पड़ा हुआ। ज्यों-ज्यों वह निचले अर्थात् स्थूल तत्त्वों की ओर उतरता है, अपनी ऊपर की सूक्ष्म अवस्था को भूलता जाता है। पुनः अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होने ही पर उसे इस पाश से मुक्ति मिलती है। यह ज्ञान—पूर्ण

ज्ञान या अभेद-ज्ञान—योग, मंत्र-जप आदि साधनों द्वारा क्रमशः अथवा कभी-कभी गुरु के सकृदुपदेश आदि से बिना किसी अन्य साधन के अकस्मात् प्राप्त हो जाता है। इसमें 'शक्तिपात' का बड़ा महत्त्व है। वैष्णव मत में जो भगवान् का 'अनुग्रह' है उसे ही शैवमत में शक्तिपात समझिए। 'अनुग्राहक शक्तिसंपातः यदनुविद्ध हृदयो जनो विवेकोन्मुखतामेति'—गुरूपदेश वा आत्मप्रकाश के रूप में यह वह 'शक्ति' है जिससे अनुविद्ध होने पर हृदय विवेकोन्मुख हो जाता है। शक्तिपात के बिना सद्गुरु का शब्द-शर भी असर नहीं करता।

त्रिक-शास्त्र और उसके उपर्युक्त तत्त्वों का जीवन से घनिष्ठ संबंध है। वे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में व्यवहारतः अनुभव करने की चीजें हैं, जैसा उन्हें मनु के जीवन में उतारकर प्रसाद ने दिखाया है। कामायनी के कथा-प्रवाह में आदि से अंत तक स्थल-स्थल पर ये तत्त्व अत्यंत स्वाभाविक रूप में जड़ दिए गए हैं, परंतु शैवशासन से अपरिचित के लिये उनका दार्शनिक संकेत लक्ष्य करना बहुत सहज नहीं है। कुछ का संकेत यहाँ कामायनी के भिन्न-भिन्न सर्गों से उद्धृत पंक्तियों में दिया जाता है—

१—एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

२—वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती सी पहचानी सी॥

३—पंच भूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं के शकल-निपात॥

४—शून्य बना जो प्रगट अभाव।

५—एक यवनिका हटी पवन से
प्रेरित मायापट जैसी।
और आवरण मुक्त प्रकृति थी···॥

६—कर रही लीलामय आनंद
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त॥

७—अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अंतर में उसकी चाह रही।

८—शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।

९—पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा॥

१०—था एक पूजता देह दीन।
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण॥

११—कुछ मेरा हो यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अज्ञान।

१२—संकुचित असीम अमोघ शक्ति।
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद।
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छंद।
कर्तृत्व सफल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला।
नित्यता विभाजित हो पल पल में काल निरंतर चले ढला॥

इन उद्धरणों में निर्दिष्ट शब्दों का ऊपर दिए गए त्रिक-शासन के विवरण में स्थान अब सहज ही ढूँढा जा सकता है। ऐसे और भी उद्धरण कामायनी से दिए जा सकते हैं, ये तो केवल उदाहरण-स्वरूप हैं। उपर्युक्त शैव-तत्त्वों को लेकर कामायनी की पूरी व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है, परंतु अब तक के विवेचन तथा आगे के उद्धरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि कामायनी में, आनंदरूप अद्वैत शिव-तत्त्व का विश्व और व्यक्ति से संबंध स्पष्ट करते हुए लोकजीवन में उसकी अनुभूति पूर्णरूप से साध्य बना दी गई है—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है।

कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है ।।
इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद सा रूप बनाए ।
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाए ।।
वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टिक्रम है ।
सब में घुलमिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है ।।
अपने सुख दुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर ।
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर ।।
सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है ।
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है ।।

('आनंद' सर्ग)

कितना बड़ा शिव संकल्प है, कितना उच्च और स्पष्ट लक्ष्य, कितना पावन प्रयास ! 'सबकी सेवा न पराई'—कितने गहन प्रश्न का कितना सरल और सुंदर हल ! पराई सेवा को, पर-दुःख-कातरता को, कितना भी अधिक महत्त्व दिया जाय, पर उसमें अहंकार, दंभ और प्रतिकार-लालसा के लिये पर्याप्त अवकाश है । परंतु यहाँ अपने पराए का भेद ही नहीं है ।

कामायनी में प्रसाद जी के भावों और उनके व्यंजक शब्दों का इतिहास छोटा नहीं । कहाँ कहाँ तक उनकी पहुँच थी और उनके शब्द कितने अर्थगर्भित हैं, यह गहनतर अध्ययन से क्रमशः प्रकट होता जायगा । परंतु इतना तो स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा की वैदिक कथा को दार्शनिक और आध्यात्मिक भूमिका पर रखकर उसके आश्रय से वेदों, उपनिषदों तथा उन्हीं की परंपरा में विकसित शैव एवं

शाक्त अद्वैत आनंद-भावना को अपनी प्रतिभा और अनुभव-शक्ति द्वारा मानव-जीवन की चिरंतन समस्या से संबद्ध करके बड़ी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है। मनु और श्रद्धा की कथा भले ही इतिहास हो, परंतु वह केवल भौतिक स्थूल इतिहास नहीं, विश्व-चेतना का भी सुंदर इतिहास है। प्रसाद जी कहते हैं—

मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। (भूमिका)

जैसे सांकेतिक अर्थ से उन्हें कोई मतलब ही न रहा हो! मनु और श्रद्धा की कथा के सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करने में उन्हें आपत्ति हो या न हो, हमें तो कामायनी में वह ऐतिहासिक के साथ-साथ मानव की आनंद-साधना का सांकेतिक अर्थ भी देती ही है। अब रह गया यह प्रश्न कि "उन्होंने अपने इस प्रिय आनंदवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमयी भूमिका बनाकर की है" (हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल), अथवा उनकी दार्शनिकता और अनुभूति में कुछ सचाई और गहराई भी है, इसका निर्णय करना कामायनी के सहृदय पाठकों का काम है।

इस लेख में कामायनी के काव्यत्व की समीक्षा हमारा उद्देश्य नहीं, तथापि अंत में हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि किसी काव्य का मूल्य उसकी मूल या प्रधान भावना के आधार पर आँकना उचित और अपेक्षित हो तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस युग में ऐसी उच्च और विशाल मंगल-भावना को लेकर शायद कोई भी दूसरा काव्य नहीं लिखा गया—

अपनी सेवा न पराई
अपनी ही सुख संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है॥

५०० वर्ष पहले कबीर ने, जिनकी भक्ति का तत्त्व भी इसी अपने पराए के एकत्व की अनुभूति है, अवश्य लिखा था—

आपा पर सम चीन्हिए, दीसै सरब समान।
इहि पद नरहरि भेटिए, तू छाँडि कपट अभिमान रे॥

और इसी अनुभूति के बल पर वे इतने उच्च कोटि का भाव व्यक्त कर सके थे—

रे मन जाहि जहाँ तोहिं भावै।
अब न कोई तेरे अंकुस लावै ॥
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहँ रामा।
हरि पद चीन्हि किया बिसरामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई।
प्रगट्यो ज्ञान जहाँ तहँ सोई ॥
लीन निरंतर बपु बिसराया।
कहै कबीर सुखसागर पाया ॥

भेद-बुद्धि आज उनके इस भाव का मर्म समझना न चाहे, पर कहाँ है अन्यत्र इसका जोड़? ऐसी ही भूमिका पर पहुँचे हुए संतों या साधकों के लिये कहा गया था—

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः।
मनो न चलितस्तस्य सर्वावस्था गतस्य तु ॥
यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥

परंतु प्रसाद जी ने प्रबंध-काव्य के सहारे इस अनुभूति की जैसी सुस्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की है वैसी अन्यत्र कहीं ढूँढ़ना व्यर्थ है।

प्राचीन भारतीय यान

[ले० श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी]

साधारणतया 'यान' शब्द से सवारी का बोध होता है। यह शब्द ऐसे किसी भी वाहन के लिये प्रयुक्त होता है जो किसी जानवर या मनुष्य द्वारा वाहित हो। कहीं-कहीं 'यान' का अर्थ वाहन-विशेष, यथा पालकी इत्यादि, भी होता है। भारतवर्ष में यानों का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल से मिलता है। हमारे प्राचीन साहित्य तथा कला के अध्ययन से हमें इन भारतीय यानों के विषय में बड़ा मनोरंजक ज्ञान प्राप्त होता है। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर कुछ विचार करेंगे।। साधारणतः 'यानों' के अंतर्गत रथ, गाड़ी, पालकी, नाव, जहाज तथा विमान इत्यादि सवारियाँ आती हैं। प्रथम 'रथ' को लें।

साहित्य में यान

रथ

रथों का प्रयोग वैदिक काल से होता आ रहा है। उस समय रथ संचार, क्रीड़ा तथा युद्ध के लिये प्रयुक्त होते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। राजा, मंत्री, सेनापति तथा अन्य उच्च कर्मचारी युद्धों में बहुधा रथों का उपयोग करते थे। उत्सव-महोत्सवों में रथों की दौड़ हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होनेवाले सभी रथ एक चक्राकार रंगस्थल में तेजी के साथ दौड़ाए जाते थे। उसी अवसर पर घोड़ों की परख तथा सारथी के रथ-संचालन-चातुर्य की भी परीक्षा हुआ करती थी।

वैदिक साहित्य हमें रथ-निर्माण-विधि के विषय में बहुत सी बातें बतलाता है।[1] रथ लकड़ी का बनता था जिसमें उसका 'अक्ष'—दोनों पहियों को जोड़नेवाला

१—(क) केतकर, श्रीधर व्यंकटेश—ज्ञानकोश, खंड ३, पृ० ४१७-२२

(ख) काशीकर—ऋग्वेदकालीन सांस्कृतिक इतिहास, पुणें, पृ० १६३

(ग) दास, ए० सी०—'ऋग्वेदिक इंडिया' पृ० २२६

डंडा—'अरटु' नामक लकड़ी का बनाया जाता था।[२] अक्ष तथा जुए को, जिसे 'युग' कहते थे, जोड़नेवाला डंडा 'ईषादण्ड' कहलाता था। ईषा लकड़ी की ही बनती थी। इसी का दूसरा नाम 'त्रिवेणु' भी है। यह शब्द हमें बतलाता है कि कभी-कभी 'ईषा' तीन वेणुओं या डंडों से बनती थी। ईषा को जुए में किए हुए छेद में बैठाया जाता था। इस छिद्र को 'तद्मन्' कहते थे। इसके बाद इसे 'जोतर' (योक्त्रक) से बाँध दिया जाता था। ईषा का वह भाग जो जुए से आगे की ओर निकला हुआ होता था, 'प्रउग' कहलाता था। जुए को घोड़ों या बैलों की गरदन पर रखा जाता था। ये पशु इधर-उधर भागने न पाएँ, इसलिये जुए के दोनों ओर छोटे छोटे डंडे पहिना दिए जाते थे, जिन्हें 'शम्या' कहते थे। 'रश्मि' या 'रशना' लगाम का नाम था। जिन पट्टियों से घोड़े या बैल जोते जाते थे उन्हें 'कद्या' कहते थे। अक्ष के दोनों ओर 'चक्र' या पहिए होते थे। पहियों के मजबूत होने और मजबूती से कसे जाने पर काफी जोर दिया जाता था। चक्र की बाहरी गोलाई को 'पवि' और भीतरी भाग को 'नेमि' कहते थे। तीलियों का नाम 'अर' या 'आरा' था। पहियों के छेद को 'ख' कहा जाता था और 'अणि' शब्द से उन छोटी छोटी लकड़ियों का बोध होता था जो अक्ष में दोनों ओर इसलिये खोंसी जाती थीं कि वेग पाने पर पहिए खिसककर गिर न पड़ें। चक्र के उभरे हुए वर्तुलाकार केंद्र को 'नाभि' कहा जाता था। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग या 'कोश' (जिसे कभी-कभी 'बंधुर' भी कहते थे) रखा जाता था। हम यह नहीं जानते कि यह किस प्रकार कसा जाता था। कोश के भीतरी भाग को 'नीड़' तथा अगल-बगल के भागों को 'पक्ष' कहते थे (कुछ विद्वानों ने नीड़ का अर्थ 'रथ का ऊपरी सिरा' भी किया है[३])। रथ में योद्धा के बैठने का स्थल 'गर्त' कहा जाता जाता था। 'बंधुर' शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सारथि रथी के दाहिने पार्श्व में बैठता था। इसीलिये रथी को 'सव्येष्ट्र' भी कहा जाता है। 'उपस्थ' का अर्थ डा० केतकर के मतानुसार 'सारथि' का स्थान है।[४] रथ के ऊपरी को 'रथशीर्ष' कहा जाता था। रथ के वेग को घटाने के लिये या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के के लिये भी ईषादंड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी, जिसे 'कस्तंभी' या अपालंब कहते थे। (द्रष्टव्य चित्र संख्या १)

२—अथर्व० ५।१४।६
३—यादवप्रकाश—वैजयंती (संपादक-ऑपर्ट गर्स्टाव), पृ० ७२३
४—द्रष्ट० १ (क), पृ० ४२३

चित्र सं० १
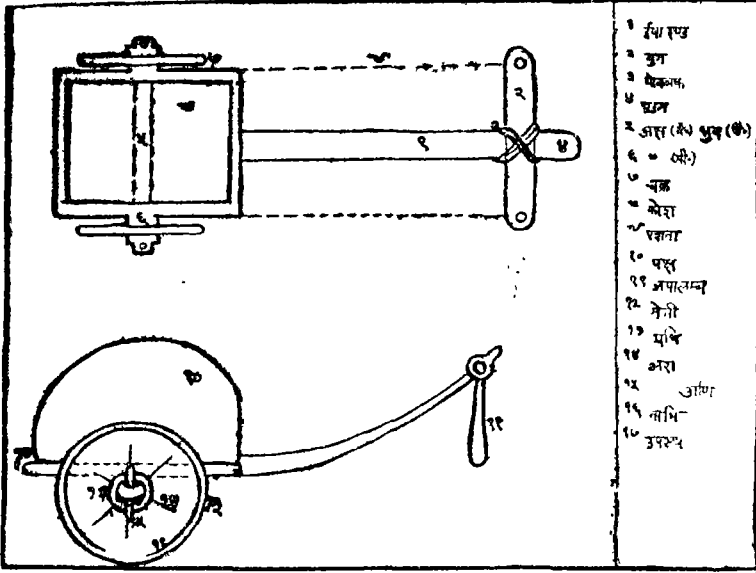
रथ और उसके भाग

चित्र सं० २ | चित्र सं० ३
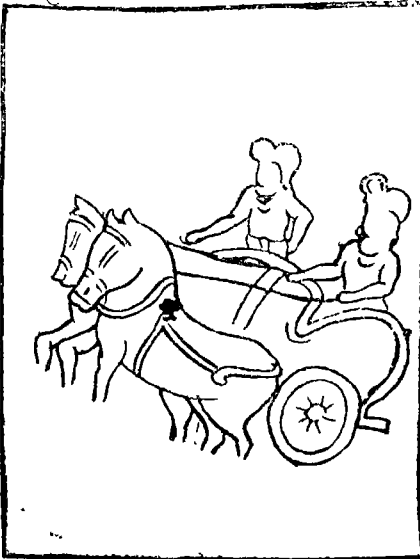
रथ (साँची से)
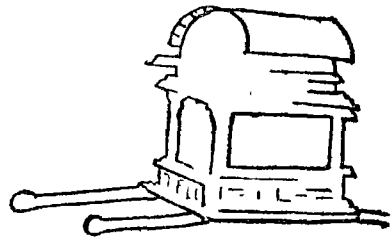
शिविका (अमरावती से)
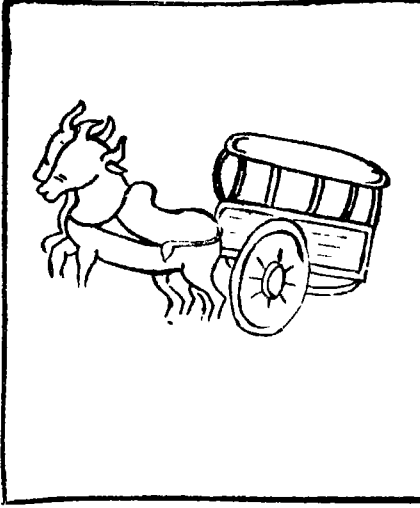
चित्र सं० ४

चित्र सं० ५

गाड़ी (मथुरा से)
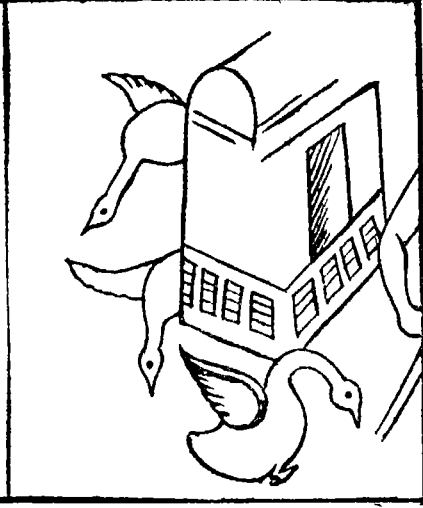
हंसयान (मथुरा से)
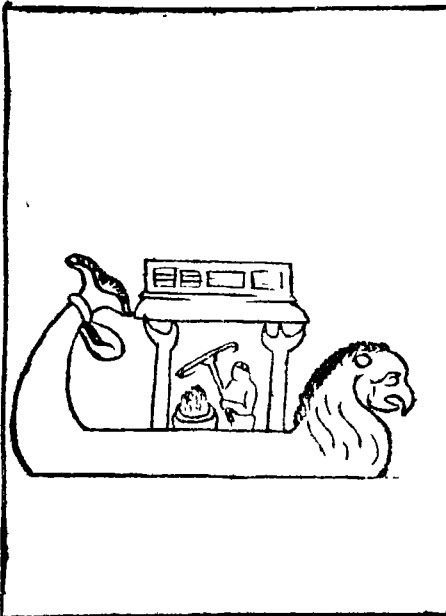
चित्र सं० ६

चित्र सं० ७

जलयान
(साँची से)
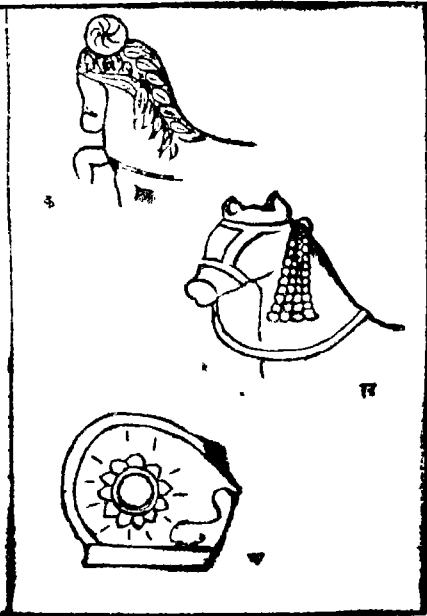
क (भरहूत), ख (साँची), ग (प्रयाग-
संग्रहालय)

आपस्तंब के शुल्वसूत्र में रथांगों के परिमाण भी दिए हुए हैं।[५] सूत्रकार के कथनानुसार अक्ष, ईषा तथा युग की लंबाई क्रमशः १०४, १८८ तथा ८६ अंगुल होनी चाहिए। यदि हम १६ अंगुल का एक फुट मान लें तो ये लंबाइयाँ लगभग ६' ६", ११' ६" और ५' ४" होंगी।[६] रथ-चक्रों के घेरे का कोई परिमाण नहीं दिया गया है, परंतु अन्य परिमाणों के आधार पर उसे २॥–३ फुट मानना अनुचित न होगा। इसी प्रकार कोश की ऊँचाई भी अनुमानतः इतनी ही मानी जा सकती है। रथ में साधारणतः दो और कभी कभी चार पहिए हुआ करते थे, पर इसके सिवा एक, तीन, सात और आठ पहियोंवाले रथों के भी उल्लेख मिलते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक है, परंतु जिस प्रकार आज भी बड़ी बड़ी मोटरगाड़ियों में छः-छः पहिए हुआ करते हैं, उसी प्रकार बड़े बड़े रथों में आठ-आठ पहियों का होना असंभव नहीं प्रतीत होता।

बहुधा रथ में दो या चार घोड़े जोते जाते थे। कभी कभी तीन घोड़े रहते थे। तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था[७], परंतु कभी कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम और 'प्रतोद' या चाबुक से रथ-संचालन करता था।

वैदिक साहित्य में रथों का वर्गीकरण बहुधा रथांग के किसी न किसी वैशिष्ट्य को लेकर किया गया है। उदाहरणार्थ, वाहकों के आधार पर—वृषरथ, षडश्व, पंचवाही, मनुष्यरथ (?), नृवाहन, इत्यादि; रथ-भागों के आधार पर—त्रिबंधुर, अष्टाबंधुर, सप्तचक्र, हिरण्यचक्र, हिरण्यप्रउग, दशकक्ष्य इत्यादि; रथ के नाद के आधार पर—स्वंद्रथ इत्यादि।[८]

वायु, मत्स्य जैसे प्राचीन पुराण तथा महाभारत जैसे इतिहास-ग्रंथ भी रथों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। जिन रथांगों का परिचय हमें वैदिक साहित्य से मिल चुका है उनके सिवा रथ के कई नवीन भाग हमें इन ग्रंथों से ज्ञात होते हैं। वे ये हैं—

५—आपस्तंब शुल्वसूत्र, ६।७५

६—पिगट, स्टुअर्ट—'प्रि-हिस्टॉरिक इंडिया, पृ० २७६-८१

७—द्रष्टव्य टि० १ ग।

८—द्रष्टव्य टि० १ क।

कूबर—साधारणतः कोशों में इस शब्द का अर्थ 'रथ का डंडा' मिलता है। परंतु उससे अर्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता। विभिन्न उल्लेखों को देखने पर इस शब्द के कई अर्थ विदित होते हैं। वैदिक साहित्य में इस शब्द का अभिप्राय गाड़ी के डंडे से है। महाभारत में कूबर रथ का ऐसा भाग है जिसे घायल अथवा अर्धमूर्छित योद्धा सहारे के लिये थाम सकता है।[९] यह भी उल्लेख मिलता है कि बड़े बड़े रथों के कूबर लोहे की कील और सोने के पट्टियों से सजाए जाते थे।[१०] यह सजावट इस बात की ओर संकेत करती है कि 'कूबर' रथ का ऐसा भाग था जो प्रमुखता से दिखलाई पड़ता था। एक स्थल पर वर्णन है कि कर्ण के रथ का कूबर टूट गया तथापि वह बराबर युद्ध करता रहा।[११] इससे स्पष्ट होता है कि कूबर का रथ के खड़े होने अथवा चलने से कोई संबंध नहीं था। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए हम 'कूबर' रथ के उस भाग को कह सकते हैं जो घोड़ों के पिछले हिस्से तथा सारथी के बीच छोटी सी दीवार सा बना होता है। बहुधा युद्ध के समय रथी और सारथी अगल-बगल खड़े रहते थे, अतएव घायल रथी को अपनी कमर तक ऊँचे कूबर का सहारा लेना सरल होता था। रथ का सम्मुख भाग होने से सोने की पट्टियों से उसकी सजावट करना योग्य ही था। किंतु वायु तथा मत्स्य-पुराण में इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। दोनों पुराणों में सूर्यादि नवग्रहों के रथों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[१२] दोनों के श्लोक सामान्य पाठभेदों को छोड़ लगभग एक ही हैं। इनमें सूर्य के रथ का जो विस्तृत वर्णन दिया गया है उससे रथांगों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर कूबर दो बतलाए गए हैं।[१३] मत्स्यपुराण में अन्यत्र भी कूबर शब्द का द्विवचन में प्रयोग किया गया है।[१४] यहाँ कूबर शब्द से रथ के डंडों का अभिप्राय नहीं हो सकता, क्योंकि उसी वर्णन में ईषादंड तथा वेणु का अलग उल्लेख मिलता है। इसलिये पुनः यह समस्या

९—महाभारत, ७।१३६।६—'रथकूबरमालम्ब्य न्यमीलयत लोचने।'

१०— वही ७।१४७।८२—'आयसैःकांचनैश्चापि पट्टैः सन्नद्ध कूबरम्'।

११— वही ७।१८८।१४–१६

१२—वायुपुराण, आनंदाश्रम प्रति, ५१।५४–६६; मत्स्यपुराण, आनंदाश्रम प्रति, १२५।३७–४३

१३—वायुपुराण ५१।६१

१४—मत्स्य० १३३।१७

उठ खड़ी होती है कि दो कूबर कौन से होंगे ? यदि हम एक अर्धचंद्राकार कूबर को दो भागों में विभक्त करें और उन्हें क्रमशः दक्षिण-कूबर और उत्तर-कूबर कहें, तो यह समस्या हल हो सकती है। इस प्रकार का अर्थ करना इसलिये भी उचित है कि जहाँ रथ के प्रत्येक अवयव का वर्णन है वहाँ घोड़े की पूँछ और सारथी के बीच दीवार की भाँति उठे हुए भाग का, जिसे हमने कूबर कहा है, कोई दूसरा नाम नहीं मिलता। तथापि यह ध्यान में रखना होगा कि परवर्ती काल में कभी-कभी कूबर शब्द का प्रयोग रथ के डंडे के अर्थ में भी किया जाता था।[१५]

नेमि—इसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। वायुपुराण से विदित होता है कि नेमि टुकड़ों को जोड़कर बनाई जाती थी, जिससे वह अधिक मजबूत हो। वायुपुराण में छः टुकड़ों से बनी हुई नेमि का उल्लेख है।[१६]

वरूथ—रथ को टकराने से बचाने के लिये बना हुआ लकड़ी का एक टुकड़ा—शब्दकोश इससे अधिक नहीं बतलाता। संभवतः यह लकड़ी अगल-बगल लगी रहती होगी, जिससे कई रथ जब एक साथ चलने लगें तब आपस में रगड़ न खा जाँय। विनयपिटक में एक स्थल पर कथा आती है कि जब अंबापाली बुद्ध को भोजन के लिये निमंत्रित कर लौटने लगी तब वह गर्व से फूली नहीं समाती थी। उसका रथ लिच्छवियों के रथ से टकरा-टकराकर चलने लगा। निश्चय ही रथों में वरूथों के लगे रहने के कारण इस टकराहट से उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची। परवर्ती काल में 'वरूथ' का ही दूसरा नाम 'रथगुप्ति' भी हो गया था।[१७]

अनुकर्ष—रथ का पेंदा। मत्स्यपुराण में 'निमेषों' को सूर्य के रथ का 'अनुकर्ष' कहा गया है।[१८]

ध्रुव और अक्ष—ऊपर हम कह चुके हैं कि दोनों पहियों को जोड़नेवाला डंडा 'अक्ष' कहलाता था। मत्स्यपुराण के अनुसार[१९] इस डंडे का जो भाग रथ के पेंदे के ठीक नीचे रहता है उसे 'ध्रुव' कहा जाता था। उसके दोनों ओर का भाग संभ-

---

१५—द्रष्ट० ३, भूमिकांड, क्षत्रियाध्याय १३१

१६—वायु० ५१।५५, ६०

१७—द्रष्टव्य ३

१८—मत्स्य० ५१।६२

१९— वही ५१।६५-६६

बत: कुछ मोटा होता होगा, जिनमें पहिए कसे जाते थे। इस भाग का नाम 'अक्ष' था। उक्त पुराण हमें बतलाता है कि अक्ष में चक्र फंसाया जाता है, अक्ष ध्रुव में लगा रहता है; चक्र के साथ अक्ष घूमता है और अक्ष के साथ ध्रुव भी घूमता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अक्ष और ध्रुव अलग-अलग भाग होते थे।

पक्ष—'रथकोश' के अगल-बगल लगे हुए कटघरों को 'पक्ष' कहते थे।

ध्वज—युद्धोपयोगी रथों के लिये ध्वज का बड़ा महत्त्व था। प्रत्येक रथी का अलग-अलग ध्वज होता था जिसपर उसका चिह्न अंकित रहता था। इसी ध्वज की सहायता से स्व-पर-पक्ष के योद्धा पहिचाने जा सकते थे। ध्वज एक ऊँचे डंडे पर फहराता था, जिसे ध्वजदंड या ध्वजयष्टि कहते थे। ध्वजदंड रथी के अगल-बगल में ही रहता था। इसके स्थान के विषय में हम पुनः चर्चा करेंगे।

वलभी—रथ के ऊपरी भाग को 'वलभी' कहते थे। कुछ वलभियाँ पर्वत-शिखर के आकार की होती थीं। मत्स्यपुराण में एक स्थल पर भगवान् शंकर के रथ को 'मेरु-शिखराकार' कहा गया है।[२०]

उपस्थ—हम बतला चुके हैं कि डा० केतकर के मतानुसार 'उपस्थ' शब्द का अर्थ सारथी का स्थान है। वैदिक साहित्य के लिये यह भले ही सत्य हो, किंतु परवर्ती काल के साहित्य में इस शब्द का अर्थ 'रथ का पिछला भाग' करना होगा। महाभारत में बतलाया गया है कि शोक-संतप्त अर्जुन रथ के उपस्थ में बैठ गए।[२१] इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि वे श्रीकृष्ण के स्थान पर बैठ गए।

अवचूड—अथवा 'अवचूल'। ध्वजयष्टि से लटकनेवाला कपड़ा या मोतियों इत्यादि का गुच्छा।

रथ का झूल—रथ के ऊपर ओढ़ाया जानेवाला कपड़ा। इसका उल्लेख विनयपिटक में मिलता है।[२२]

रथवाहक अश्वों के अलंकार—मत्स्यपुराण में जहाँ सूर्य के रथ के घोड़ों का वर्णन किया गया है वहीं उनके अलंकारों के नाम भी उल्लिखित हैं।[२३] एक का

२०—मत्स्य० १३३।४५

२१—महाभारत गीता १।४७—'एवमुक्त्वाऽर्जुनःसंख्ये रथोपस्थमुपाविशत्'।

२२—विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित, पृ० २०६); महावग्ग ५।२।४

२३—मत्स्य० १३३।३३

नाम 'पक्षाद्वय' है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह अलंकार घोड़े के शरीर पर अगल-बगल पहनाया जाता होगा। दूसरा 'बालबंधन' है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

रथावेष्टन—महाभारत में[२४] तथा अन्य स्थलों[२५] पर भी यह बतलाया गया है कि व्याघ्र, गैंडा, हाथी इत्यादि के चमड़ों से रथ आवृत रहते थे। कभी-कभी इनपर कंबलों का भी आवरण रहता था। आवरण-भिन्नता के साथ इनमें नाम-भिन्नता भी आ जाती थी; यथा, कंबल से आवृत रथ 'कंबलिक', व्याघ्र के चमड़ेवाला 'वैय्याघ्र', हाथी के चमड़ेवाला 'द्वैप' रथ कहा जाता था।

रथ के प्रकार—साहित्य में रथों के कई प्रकारों का उल्लेख मिलता है; जैसे (१) देवरथ (२) पुष्यरथ (३) कर्णीरथ (४) वैनयिक रथ (५) सांग्रामिक रथ (६) कांबलिक रथ। इन प्रकारों पर हम क्रम से विचार करेंगे।

देवरथ—देवताओं की शोभायात्राएँ (जैसे जगन्नाथ, शिव, बुद्ध, पार्श्वनाथ इत्यादि की रथयात्राएँ) निकालने के लिये इन रथों का प्रयोग किया जाता था। एकाम्रपुराण जैसे परवर्ती काल के कुछ पुराणों में इन देवरथों के निर्माण की विधि विस्तारपूर्वक बतलाई गई है।[२६] जिससे सिद्ध होता है कि ये रथ सोने-चाँदी या लकड़ी के बनते थे। इन्हें द्वार, तोरण इत्यादि से सुशोभित किया जाता था। ये सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से अलंकृत रहते थे। इनका आकार मंदिर के समान होता था।

पुष्यरथ अथवा पुष्परथ—साधारणतः ये रथ क्रीड़ा के लिये बनाए जाते थे—'संक्रीडार्थं पुष्यरथः'।[२७] किंतु कहीं-कहीं देवताओं के रथों को भी पुष्यरथ कहा है।[२८] अमरकोश के टीकाकार ने पुष्यरथ शब्द के दो अर्थ किए हैं—एक तो 'पुष्य नक्षत्र के समान सुखदायी' और दूसरा 'पुष्प के समान आकार वाला'।[२९]

२४—महाभारत, उद्योगपर्व।

२५—अमरकोश ८।५३-५४; वाचस्पत्यकोश, 'रथ'।

२६—एकाम्रपुराण अध्याय ६७; भविष्य पु० ५६।७-११, ६२; हिंदी विश्वकोष, 'रथ'।

२७—वाचस्पत्य कोश, पृ० ४७६१

२८—मत्स्य० १८२।३

२९—अमरकोश (सं० चिंतामणि शास्त्री) पृ० १६२—'यथा पुष्य नक्षत्रं सुखकरं, तद्वद्रथोपीतिपुष्यरथः कुसुमाकारत्वात्पुष्पमिव रथ इति'।

कर्णी रथ—अमरकोश के अनुसार ये रथ स्त्रियों के लिये विशेष रूप से काम में लाए जाते थे। ये वस्त्रादि से ढके रहते थे।[३०]

वैनयिक रथ—कौटिल्य[३१] वाचस्पति[३२] तथा वैजयंतीकार[३३] ने इस रथ-प्रकार का उल्लेख किया है, पर कहीं भी इसके आकारादि के विषय में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। अर्थशास्त्र का अंग्रेजी उल्था करते समय पं० शामशास्त्री ने वैनयिक रथ का अर्थ 'ट्रेनिंग चैरिअट्स' (Training chariots='शिक्षणोपयोगी' रथ) किया है।[३४]

सांग्रामिक रथ—महाभारत में इतस्ततः फैले हुए रथ-संबंधी उल्लेखों का अध्ययन करने पर सांग्रामिक रथों के विषय में निम्नांकित बातें जानी जा सकती हैं—

(१) **सारथी का स्थान**—वैदिक परंपरा के अनुसार ही महाभारत-कालीन रथों में भी सारथी का स्थान रथी के बगल में ही रहता था। जब अश्वत्थामा और विविंशति पांडवों से युद्ध कर रहे थे उस समय शत्रु के बाणों से घायल होकर उनके सारथी 'उपस्थ' में गिर पड़े।[३५] यदि सारथी रथी के आगे बैठा रहता तो उसका उपस्थ में गिरना असंभव था। दूसरे, युद्धस्थल में जब दो रथी एक दूसरे से युद्ध करते थे तब वे परस्पर बाणों की झड़ी लगा देते थे। यदि सारथी रथी के सामने बैठता होता तो बेचारा इन आने-जानेवाले बाणों से तत्काल ही मर जाता। रथी और सारथी के अगल-बगल स्थित होने में एक सुविधा यह भी थी कि सारथी के मारे जाने पर अपना स्थान-परिवर्तन न करते हुए रथी घोड़े की रास सँभाल सकता था।[३६] इसका अधिक विवेचन हमें आगे पुनः करना होगा।

३०—वही, पृ० १६२-६३

३१—अर्थशास्त्र २।३२।४६-५१

३२—द्रष्टव्य २४

३३—द्रष्ट० ३, भूमि०, क्षत्रिय० १३०

३४—पं० शामशास्त्री—'कौटिल्य अर्थशास्त्र', बंगलोर, १९१५, पृ० १७५

३५—महाभारत ६।६३।३८

३६— वही ६।७५।३२

(२) **पार्ष्णिसारथी**—सारथी के सिवा कुछ सांग्रामिक रथों में दो और सारथी रहते थे जिन्हें 'पार्ष्णिसारथी' कहा जाता था।[३७] इनका काम अगल-बगल वाले घोड़ों को नियंत्रण में रखना होता था। इनका स्थान सारथी और रथी के पीछे होता रहा होगा।

(३) **रथ का आकार**—भारतीय युद्ध में जहाँ कहीं रथों को नष्ट करने का वर्णन आता है वहाँ केवल घोड़ों का मारा जाना, सारथी की मृत्यु, ध्वजभंग एवं युग, अक्ष, कूबर इत्यादि का चूर्ण किया जाना वर्णित मिलता है। कहीं भी रथ के खंभों या छाजन इत्यादि के चूर्ण किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये रथ ढके न होकर खुले रहा करते होंगे।

जैन ग्रंथों में सांग्रामिक रथों या 'संगर-रहों' का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार इन रथों पर प्राकार के समान कमर भर ऊँचाई की लकड़ी की वेदिका बनी होती थी।[३८]

शुल्वसूत्रों में दी हुई रथ की लंबाई और चौड़ाई का वर्णन हम कर चुके हैं। महाभारत-कालीन रथ भी काफी बड़े होते थे। एक रथ में रथी को छोड़कर एक सारथी तथा दो पार्ष्णिसारथी रहते थे। इसके सिवा शस्त्रादि प्रचुर मात्रा में रखे जाते थे। इतना होने पर भी जब आवश्यकता होती थी तो उसी रथ में एक दूसरा रथी भी बैठकर युद्ध कर सकता था। महाभारत में यह बहुधा देखा जाता है कि एक रथी के विरथ होने पर दूसरा रथी उसे अपने रथ में बैठा लेता है और दोनों वहीं से युद्ध करते हैं।[३९]

मत्स्यपुराण हमें यह भी बतलाता है कि रथ के ईषादंड की लंबाई उसके उपस्थ से दुगुनी होती थी।[४०]

३७— वही ७।२१।१६

३८—सूरि, विजयराजेंद्र—'अभिधानराजेंद्र', भाग ७, पृ० ७६—'संगरह'—संग्रामयोग्ये रथे यस्योपरि प्राकारानुकारिणी कटिप्रमाणा फलकमयी वेदिका क्रियते, यत्रारूढैः संग्रामः क्रियते। (अनुयोगद्वार सूत्र, बृहत्कल्पवृत्ति)।

३९—महाभारत ६।७६।१६; ६।८३।१८-१६

४०—वायु० ५१।५६

हाथी का रथ—मत्स्यपुराण में एक स्थल पर हाथी के रथ का भी वर्णन मिलता है। वहाँ पर कहा गया है कि जिसमें चार सोने के हाथी जोते गए हों, जिसमें चार चक्र हों, जिसके ध्वज पर गरुड बना हो, जिसमें कई देवताओं की प्रतिष्ठा की गई हो तथा जो सब प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त हो, ऐसा रथ दान देने के लिये बनवाया जाय।[४१] संभव है कि तत्कालीन समाज में राजा-महाराजाओं के यहाँ इस प्रकार के रथ प्रचलित रहे हों। कहा जाता है कि अभी कल तक उदयपुर राज्य में विजयादशमी की सवारी हाथी के रथ पर निकलती थी।

रथ को घंटियों से भी सुशोभित किया जाता था।[४२] बहुधा रथ खींचने के लिये घोड़ों का उपयोग किया जाता था, पर इनके सिवा बैल, ऊँट, खच्चर, गदहे और संभवतः हाथी भी काम में लाए जाते थे। गदहों के रथों का उल्लेख कई स्थलों पर आता है।[४३] यह भी कहा गया है कि गदहोंवाले रथ गति में तेज होते हैं।[४४] उत्तम रथवाही गदहे पंजाब और ईरान से आते थे।[४५]

'रथकार' या रथ को बनानेवाले का स्थान ऊँचा होता था। एक स्थल पर रथकार को राजा के चार रत्नों में से एक माना गया है।[४६]

गाड़ी या गोरथ

ऋग्वेद तथा परवर्ती काल के ग्रंथों में भी 'अनस्' (गाड़ी) शब्द का 'रथ' से भिन्नार्थ में प्रयोग किया गया है, तथापि दोनों की रचना-पद्धति में विशेष अंतर नहीं है। केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि रथ-चक्र का वह छिद्र जिसमें अक्ष फँसता था, गाड़ी के पहिए के छेद से बड़ा होता था। गाड़ी में भी रथ के

४१—मत्स्य० २८२।३-९

४२—आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया रिपोर्ट्स, १९०२-३, पृ० १६२

४३—द्रष्ट० १ (क) पृ० ४१८; ६, पृ० २७४; वैद्य, चिं० वि०, महाभारताचा उपसंहार, पृ० २७३

४४—भास, प्रतिज्ञायौगंधरायण (भास नाटकचक्र, पृ० ३२७)—'जवातिशययुक्तेन खर रथेन'।

४५—वैद्य, चिं० वि०, महाभारताचा उपसंहार, पृ० १४१

४६—(क) जैन, जगदीशचन्द्र—'लाइफ इन एंशंट इंडिया ऐज डेपिक्टेड इन द जैन कैनन्स्', पृ० १०१; (ख) पुसालकर, ए० डी०, 'भास—ए स्टडी', पृ० ४४१-४४४

समान युग, अक्ष, ईषा, चक्र, नाभि, नेमि, पक्ष इत्यादि लगभग सभी भाग होते थे। गाड़ी में बैल अथवा कभी कभी गौएँ भी जोती जाती थीं। कुछ गाड़ियों में आच्छादन भी रहता था। ऋग्वेद में बतलाया गया है कि सूर्य की कन्या सूर्या को उसके विवाह के अवसर पर जिस गाड़ी में बैठाया गया था वह आच्छादित थी। गाड़ी खींचनेवाले जानवर को 'धूर्षद' कहते थे।[४७] शतपथ-ब्राह्मण में उस गाड़ी का जुआ जिसमें बैल जोते जाते थे, 'युक्त' कहा गया है।[४८] साधारणतया गाड़ियाँ दो प्रकार की होती थीं—एक तो मनुष्यवाही तथा दूसरी भारवाही। मनुष्यवाही गाड़ियों को 'वृषरथ' भी कहते थे। भारवाही गाड़ियाँ दो प्रकार की थीं—एक तो वे जो बड़ी होती थीं और अनाज इत्यादि ढोने के काम में लाई जाती थीं। इन्हें 'शकट' या 'सगड़' कहते थे। इसी का वर्तमान रूप 'सग्गड़' है। दूसरे प्रकार की गाड़ियाँ छोटी होती थीं। इन्हें 'गोलिंग' या 'लघुयान' भी कहा जाता था।[४९]

महाभारत में बाणों की गाड़ियों का उल्लेख आता है। ये गाड़ियाँ युद्धक्षेत्र में बाण तथा अन्य शस्त्रादि ढोकर ले जाने के काम में लाई जाती थीं। इनमें आठ बैल जुते होते थे।[५०]

जैन साहित्य से बैलगाड़ियों के विषय में अधिक बातें जानी जा सकती है। गाड़ीवाला गाड़ी और बैल दोनों की निगरानी रखता था। गाड़ी जोतने के पूर्व बैलों को साफ करना (नहलाना), और उन्हें अनेक अलंकारों से सुसज्जित करना उसका कर्तव्य था। गाड़ीवान के हाथ में बैलों को हाँकने के लिये जो लकड़ी होती थी उसे 'पोदलट्ठी' कहते थे। बैलों के गले में सूत की डोरियों से, जिनमें सोने के तार गुँथे होते थे, घंटियाँ लटकाई जाती थीं। बैलों को दागने की प्रथा (नीलांछनाकम्म) भी थी। गाड़ियों में बैल तथा कभी कभी ऊँट भी जोते जाते थे।[५१]

४७—द्रष्टव्य १ (क)।

४८—द्रष्ट० वही, पृ० ४२३

४९—३, भूमि० क्षत्रिय०, १२५

५०—द्रष्टव्य ४५, पृ० ५०६

५१—द्रष्टव्य ४६ (क), पृ० ११७

पालकी

पालकी या शिविका का प्रचार प्राचीन काल में भी था। विनयपिटक में 'पाटंकी' (पालकी) या शिविका का उल्लेख मिलता है। यह यान विशेषतः स्त्रीजनोपयोगी होता था। भिक्षुणियों के लिये भी यह सवारी वैध थी।[५२] भास ने इस यान के दो नाम दिए हैं—शिविका और पीठिका। किंतु इनका वहाँ स्पष्टीकरण नहीं है। संभव है कि आजकल के 'तामजाम' की भाँति पीठिका खुली रहती हो और उसमें पीठ (कुर्सी की तरह का आसन) भी लगा रहता हो, और शिविका आज की पेटीनुमा पालकी की भाँति चारों ओर से आवृत रहती हो। भास के नाटकों से यह भी पता चलता है कि शिविका राजकुमारियों के उपयोग में आती थी। शिविकाएँ हाथीदाँत की बनी होती थीं जिनमें श्वेत पुष्प तथा रत्नदीप लगे रहते थे।[५३]

शिविका का जो लक्षण 'अभिधानराजेन्द्र' में दिया है उसके अनुसार इस शब्द का अर्थ 'बंद पालकी' ही होता है।[५४] जैन साहित्य में शिविका का एक और नाम 'संदमनी' मिलता है।[५५] यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि 'संदमनी' शिविका का पर्यायवाची था या प्रकार-विशेष। इन यानों का प्रयोग भी राजाओं या धनिकों द्वारा ही होता था। कुछ राजाओं की पालकियों के विशेष नाम भी होते थे।[५६]

विनयपिटक में एक दूसरे यान का भी उल्लेख मिलता है जो बहुधा पालकी से ही मिलता-जुलता था। यह है 'हत्थवहक'।[५७] यह दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) नरों से वाहित, (२) मादाओं से वाहित। यह स्पष्ट नहीं होता कि इस शब्दावली का तात्पर्य पुरुषवाहित तथा स्त्रीवाहित यान है अथवा वृष या गोवाहित। यान भिक्षुओं के लिये नरवाहित हत्थवहक में बैठना वैध माना गया है। संभवतः इसका अभिप्राय पुरुषवाही पालकी ही होगा।

५२—द्रष्ट० २२, पृ० ५३७, चुल्लवग्ग १०।५।८

५३—अश्वघोष, बुद्धचरित, १।८६—'द्विरदरदमयीं, महार्हां, सितासित पुष्पभृतां मणि प्रदीपम्'।

५४—द्रष्ट० ३८, भाग ७ पृ० ८७३—'सिविका, उपरिच्छादिते कोष्ठाकारे'।

५५—द्रष्टव्य ५१

५६—द्रष्टव्य ५१;

५७—द्रष्ट० २२

जलयान

जलयान का उल्लेख भी वैदिक काल से मिलता है। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में सौ डाँडों से चलाए जानेवाले जहाज का उल्लेख है। पतवार को 'अरित्र' कहते थे और नाविक को 'अरितृ'। छोटी नाव जो वृक्ष के तने को कोरकर बनाई जाती थी, 'नौ' कहलाती थी। उसे 'स्लव' अर्थात् उतरानेवाली भी कहते थे। डा० केतकर के मतानुसार पाल तथा मस्तूल का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। शतपथ-ब्राह्मण में पतवार को 'मण्ड' कहा गया है। परवर्ती काल में इसे 'कर्ण' कहते थे।[५८]

वेदों के बाद वाले साहित्य में बड़े बड़े व्यापारी जहाज, युद्धपोत, क्रीडा-नौकाएँ इत्यादि जलयानों के कई प्रकार मिलते हैं। समुद्र में यात्रा करनेवाले जहाज 'सायांत्रिर्णव' तथा 'प्रवहण' कहलाते थे। जैन साहित्य[५९] में इन जहाजों को 'पोय', 'पोयवहण' अथवा 'पवहण' भी कहा गया है। मुख्य नाविक को 'निज्जामय' कहा जाता था। जहाज पर के लोगों में 'कुच्छिधारय', 'कण्णधार', और 'गब्भिज्ज' इत्यादि कर्मचारी होते थे। जैन साहित्य में छोटी नावों के भी कई नाम मिलते हैं; जैसे नाव, अगट्ठिया, अंतरंडक गोलिया इत्यादि, किंतु इनके विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है।

वायुयान

प्राचीन साहित्य में अन्य यानों के साथ वायुयान या विमान का भी प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। अपने स्वामी के मनोनुकूल रहनेवाला रामायण का पुष्पक विमान प्रसिद्ध ही है। जैन कथाओं में भी 'गरुड़' नामक वायुगामी यान का उल्लेख आता है।[६०] 'अभिधानराजेन्द्र' में विमान को देवताओं का यान बतलाया गया है।[६१] इस प्रकार के वायुगामी विमान कभी सत्य सृष्टि में रहे अथवा नहीं, यह वाद का विषय है। इतना तो निश्चित है कि साहित्य में विमानों के प्रचुर उल्लेख होते हुए भी हम उनकी बनावट से सर्वथा अपरिचित हैं।

५८—द्रष्ट० ४८, पृ० ४१६

५९— ,, ४६ क, पृ० ११८

६०—वही, पृ० १०१

६१—द्रष्ट० ३८, भाग ४, पृ० १४५०

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार के यानों का उपयोग किया जाता था।[६२] 'प्रवहण', जो रथ का भी एक नाम था, विवाह, बारात इत्यादि के अवसर पर काम में लाया जाता था। कभी कभी इस यान में राजस्त्रियाँ तथा उच्च श्रेणी की गणिकाएँ चलती थीं। इसमें गद्दियाँ भी लगी रहती थीं। शिविका का प्रयोग जैसा कि हम बतला चुके हैं, राजकुमारियाँ करती थीं। विवाह में 'वाधूयान' रथविशेष का भी प्रयोग होता था। राज्याभिषेक के समय पर अथवा बड़ी बड़ी शोभायात्राओं में पुष्यरथ काम में लाए जाते थे।

कला में यान†

प्राचीन भारतीय यानों के विषय में अब तक का किया हुआ विवेचन साहित्य के आधार पर था, जहाँ अधिकतर निष्कर्ष केवल अनुमान पर ही आधारित थे। पर अब हम अनुमान को छोड़ प्रत्यक्ष के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। प्राचीन भारत की प्रस्तर-कला-कृतियों में हमें भारतीय यानों के कई नमूने मिलते हैं। इसके सिवा विभिन्न स्थलों से हमें जो मिट्टी के खिलौने प्राप्त हुए हैं, उनमें भी रथों और गाड़ियों के कुछ नमूने मिलते हैं। ये सब चीजें प्राचीन भारतीय यानों पर अंशतः अच्छा प्रकाश डालती हैं—अंशतः इसलिये कि कला में केवल उसी अंश का प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है जिसकी आवश्यकता होती है।

रथ

रथ का (अथवा जिसे गाड़ी कहना अधिक युक्तिसंगत होगा उसका) प्रथम दर्शन हमें सिंधु-सभ्यता में होता है। किंतु इस सोपान पर इसके विषय में अधिक बातें नहीं जानी जा सकतीं; केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अति प्राचीन काल में गाड़ियों के पहियों में तीलियाँ नहीं होती थीं, वे मोटे और ठोस बनाए जाते थे।

रथ के सर्वप्रथम नमूने हमें भरहूत के स्तूप पर दृष्टिगोचर होते हैं।[६३] इन्हीं के समकालीन मिट्टी के वे छोटे छोटे रथ हैं जो कौशांबी, भीटा इत्यादि अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। उनमें से कुछ में बैल भी जुते हैं। इस प्रकार के कुछ

६२—द्रष्ट० ४६ (ख)

† यहाँ प्रधानतः शुंग और कुषाण कला पर ही विचार किया गया है।

६३—बरुआ, बी० एम्०, भरहूत, खं० ३, आकृति ५२, ६९, ११४

रथ तो संपूर्ण हैं और कई के टूटे हुए टुकड़े मिले हैं (द्रष्ट० चित्र ७ ग)। कौशांबी से प्राप्त इस प्रकार के रथों का सुंदर संग्रह प्रयाग-संग्रहालय में सुरक्षित है। सूर्य के रथ का सुंदर चित्रण बुद्धगया से प्राप्त एक वेदिका-स्तंभ पर किया गया है।[६४] भीटा से मिट्टी का एक ठीकरा मिला है, जिसपर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा का एक भाग अंकित है।[६५] यहाँ भी दुष्यंत का रथ दर्शनीय है। रथों का सुंदर और विपुल चित्रण साँची के मुख्य स्तूप के दक्षिण और उत्तर द्वार पर किया गया है। इन्हीं के समकालीन रथ दक्षिण-भारत के अमरावती स्तूप से प्राप्त शिलापट्टों पर देखे जा सकते हैं। गुप्तकालीन कलाकृतियों में भी रथ के दर्शन होते हैं। लगभग इसी काल के बाद रथों का सर्वमान्य प्रयोग उठ चुका था। इसलिये यद्यपि कलाकृतियों में उसके बाद भी रथ दिखलाई पड़ते हैं, तथापि उस काल का उनका चित्रण सत्य पर आधारित न होकर बहुत अंशों में कल्पना पर आधारित है। यों तो मध्यभारत में बैलों के रथ अभी लगभग पचीस वर्ष पूर्व तक चलते रहे, किंतु उनका वैविध्य और महत्त्व तो कभी का नष्ट हो चुका था। अस्तु। इन रथयुक्त कलाकृतियों का अध्ययन हमें निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचाता है—

रथांग—कलाकृतियों में हमें निम्नलिखित रथांग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं और उनका आकार इत्यादि समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

ईषा और युग—साँची के स्तूप में उत्तर द्वार पर वेस्संतर जातक की कथा अंकित है। उसमें एक स्थान पर यही चित्रित किया गया है कि वेस्संतर अपना रथ ब्राह्मण को दे चुका है और ब्राह्मण उसे लेकर जा रहा है।[६६] यहाँ पर ईषा, युग और अपालंब तीनों स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं। ईषादंड सरल नहीं है, कुछ गोलाई लिए हुए है। युगबंध के पास ही अपालंब नीचे की ओर लटक रहा है। साँची के एक द्वारतोरण पर[६७] हमें रथ का एक ऐसा भाग दिखलाई पड़ता है जिसकी चर्चा 'साहित्य' के अंतर्गत नहीं हुई है। यह भाग लकड़ी के दो टुकड़े

६४—बरुआ, बी० एम्०, 'गया ऐंड बुद्धगया' आकृति ४२

६५—द्रष्ट० ४२, १९११-१२, पृ० ७३, सं० १७

६६—मार्शल, जे०, और फाउचर, ए०, द मान्युमेंट्स ऑव साँची, प्लेट २३

६७—वही, प्लेट ४० और ४४

या गद्दियाँ हैं जो घोड़ों की गर्दन के पास इस प्रकार लगाई जाती थीं कि वे वेग से दौड़ते समय ईषादंड या युगबंध से न टकराएँ।

चक्र—इन कलाकृतियों में रथ के ठोस पहिए नहीं दिखलाई पड़ते। प्रायः सभी चक्रों में तीलियाँ, नेमि इत्यादि सभी अंग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं।

पक्ष और कूबर—इन दोनों को बेल-बूटों से भली भाँति सजाया जाता था (चित्र संख्या ७ ग)।

ध्वज—ध्वज के महत्त्व की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। श्री शिवराममूर्ति ने एक स्थल पर लिखा है[६८] कि 'ध्वजों का स्थान निश्चित करने के लिये अब तक की ज्ञात कलाकृतियों में से कोई प्रमाण नहीं मिलता' और इसीलिये उन्होंने चीनी मूर्तियों का सहारा लिया है। परंतु अहिच्छत्रा में हाल ही में एक मिट्टी का ठीकरा मिला है[६९] जिसपर दो रथी युद्ध करते हुए दिखलाए गए हैं। इससे ध्वज का स्थान निश्चित हो जाता है। साहित्य के अंतर्गत ध्वज की चर्चा करते समय हमने यह दिखलाने का प्रयास किया था कि ध्वज रथी के अगल-बगल में होना चाहिए। प्रस्तुत टुकड़े पर अवचूलयुक्त ध्वज ठीक रथी के बगल में ही है।

रथ के आकार और भेद—आश्चर्य है कि इन विभिन्न कलाकृतियों में रथ लगभग एक ही प्रकार के मिलते हैं। हम इनकी तुलना सांग्रामिक रथों से कर सकते हैं, जिनका वर्णन हम कर चुके हैं। जैन-ग्रंथोंवाला 'संगर रह' का लक्षण इन रथों पर पूरी तरह से घटता है। क्या पूजनार्थ जाते समय,[७०] क्या युद्ध-यात्रा के लिये,[७१] और क्या नगर का परित्याग कर वनगमन के लिये प्रयुक्त—सभी रथ एक ही प्रकार के हैं। ऐसा क्यों हैं, इसका उत्तर देना कठिन है। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि कलाकृतियों से तत्कालीन अवस्था का आंशिक प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, संपूर्ण नहीं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि ये रथ आकार में छोटे नहीं होते

६८—शिवराममूर्ति, 'अमरावती स्कल्पचर्स इन द मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम', १९४२ पृ० १२२

६९—अग्रवाल, वा० श०, 'टेराकोटाज फ्राम अहिच्छत्रा', एंशंट इंडिया, संख्या ४, प्लेट ६६, पृ० १७१

७०—द्रष्ट० ६६, प्लेट ११

७१—वही, प्लेट १५

थे, क्योंकि कभी-कभी एक ही रथ में दो ही नहीं, वरन् चार-चार व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं।[७२]

घोड़े—रथ में साधारणतया दो, और कभी कभी चार घोड़े भी जोते जाते थे। एक घोड़े का रथ कहीं नहीं दिखलाई पड़ता। यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि लगभग सभी स्थलों पर घोड़े की पूँछ कक्ष्या से बँधी हुई दिखलाई पड़ती है (चित्र २ और ४)। संभवतः ऐसा इसलिये करते होंगे कि घोड़ों की पूँछें पहियों के पास होने के कारण वेग से घूमते हुए चक्र के साथ फँस न जाँय।

अभी हम घोड़ों के दो अलंकारों, 'पदद्वय' और 'बालबंधन', का उल्लेख कर चुके हैं। उनमें बालबंधन को हम कलाकृतियों में देख सकते हैं। घोड़ों के बालों को गूँथकर वेणियाँ बनाने की प्रथा भी कला में दिखलाई पड़ती है (चित्र ७ क)। इन्हीं में से मोतियों की लड़ियों के गुच्छे भी लटकते हुए दिखलाई पड़ते हैं (चित्र ७ ख)। इन्हीं का नाम 'बालबंधन' होना चाहिए। इसके सिवा भरहूत की कलाकृतियों में घोड़ों की कँलगियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं (चित्र ८ क)। इनमें घोड़ों के कंठ में मुक्ताजाल भी पड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है।[७३]

रथी और सारथी—साँची और भरहूत के स्तूपों पर अंकित रथों में रथी और सारथी का स्थान विशेष मनोवेधक है। बहुधा सारथी बाएँ ओर और रथी दाहिने ओर रहता है (चित्र २)। पर इस प्रकार का कोई निश्चित नियम नहीं था, कहीं-कहीं ठीक इसके विपरीत भी रथी और सारथी दिखलाई पड़ते हैं।[७४] स्त्रियाँ भी क्रीड़ा हेतु कभी-कभी सारथ्य किया करती थीं। साँची में एक स्थल पर एक रानी सारथ्य करती हुई दिखलाई पड़ती है।[७५] राजा और राजकुमार भी रथ-संचालन-कला में दक्ष होते थे। नगर से निकलते समय कुमार वेस्संतर स्वयं सारथ्य करते हुए दिखलाए गए हैं।[७६] कहीं-कहीं रथी आगे और सारथी

७२—वही, प्लेट २३

७३—कनिंघम, ए०, स्तूप ऑव भरहूत, प्लेट ३१ सं० २

७४—द्रष्ट० ६६, प्लेट १८ ए

७५—वही, ७१ आकृति २७ बी

७६—वही, २३

पीछे भी दिखलाया गया है।[७७] किंतु इन आधारों पर यह निष्कर्ष निश्चित रूप से नहीं निकाला जा सकता कि वस्तुतः सारथी पीछे रहता था, क्योंकि भारतीय कला में प्रत्येक वस्तु को यावच्छक्य भली-भाँति दिखलाने की दृष्टि से ठीक बगल में पड़नेवाली वस्तु को कुछ पीछे या ऊपर की ओर दिखलाने की प्रथा थी।

अहिच्छत्र से मिले हुए ठीकरे पर, जो लगभग सातवीं शती का माना गया है, सांग्रामिक रथ में भी सारथी रथी के ठीक सामने बैठा हुआ दिखलाया गया है।[७८] किंतु यह चित्रण वास्तविक स्थिति का प्रातिनिध्य नहीं कर सकता, क्योंकि इस समय तक पहुँचते पहुँचते रथों का उपयोग युद्ध के लिये निश्चित रूप से बंद हो गया था।

सांग्रामिक रथों को छोड़कर अन्य प्रकार के रथों में रथी और सारथी का स्थान कहाँ होता था, इसका उत्तर कला में उन रथों के अभाव के कारण नहीं दिया जा सकता।

गाड़ियाँ या गोरथ

कला में मुख्यतः गाड़ियाँ दो प्रकार की दिखलाई पड़ती हैं— अनावृत और आवृत। अनावृत गाड़ी निश्चित ही शकट है जो भारवहन के काम में आता था। भरहुत के एक शिलापट्ट पर अनाथपिंडक के दान की कथा उत्कीर्ण है,[७९] जिसमें यह दिखलाया गया है कि श्रेष्ठी अनाथपिंडक ने शकट पर धन लाकर राजकुमार जेत की भूमि पर बिछवाया। यहाँ पर दिखलाया गया शकट बहुत कुछ आजकल के सग्गड़ सा है। बैल जुते हुए न होने के कारण ईषादंड, युग और शम्या साफ देखी जा सकती हैं।

भरहुत वाली अनावृत गाड़ी में ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैलों के गलों को ठीक से फँसा रखने के लिये युग के प्रत्येक ओर दो-दो खुरियाँ, जिन्हें शम्या कहते थे, लगी हुई हैं। मथुरा के कुषाणकालीन बौद्धस्तूप से भी कुछ अनावृत गाड़ियों के उदाहरण प्राप्त हुए हैं।[८०] यह इस तरह की गाड़ियों का दूसरा प्रकार

७७—वही, प्लेट १८ए, १७ बी

७८—द्रष्ट० ६६

७९—द्रष्टव्य ६३, आकृति ४५

८०—स्मिथ, वी० ए०, 'द जैन स्तूप ऐंड अदर एंटिक्विटिज ऑव मथुरा,' प्लेट १६ और २०

है। यहाँ गाड़ी में पक्ष दोनों ओर लगे हैं, केवल आच्छादन भर नहीं है। इस प्रकार की गाड़ी यात्रा के काम में आती थी।

भरहूत के स्तूप पर आवृत गाड़ी भी देखी जा सकती है।[८१] इसमें कई वस्तुएँ ध्यान देने योग्य हैं। पहले तो ईषा ही है। यहाँ ईषा एक डंडे वाली नहीं है, उसने 'त्रिवेणु' का रूप धारण कर लिया है। जहाँ पर ये त्रिवेणु, कोश से मिलते हैं वहाँ गाड़ीवान के बैठने के लिये जगह भी बनी है। इसमें पहले की भाँति चार शम्याएँ पड़ी हैं और बैलों की रस्सियाँ भी इधर-उधर छूटी पड़ी हैं। निश्चय ही गाड़ी को अपालंब पर खड़ा किया गया है, जो हमें दिखलाई नहीं पड़ रहा है। गाड़ी के ऊपर का छप्पर चार कोनों के खंभों से बाँध दिया गया है। गाड़ी दो पहिए वाली है। गाड़ी के पिछले भाग में यात्रियों के चढ़ने के लिये भी कुछ सुविधा कर दी गई है। साँची में भी आवृत गाड़ी का अच्छा नमूना मिलता है।[८२] अंतर केवल इतना ही है कि वहाँ छप्पर चार नहीं प्रत्युत आठ खंभों के सहारे बाँधा गया है। गाड़ी में तीन यात्री बैठे हुए दिखलाए गए हैं। यह दो पहियों-वाली गाड़ी है जिसे दो बैल खींच रहे हैं। शुंगकाल की इस प्रकार की गाड़ियों का सबसे अच्छा चित्रण मथुरा से पाई गई एक पत्थर की धन्नी पर मिलता है।[८३] साँची के समान इसका भी छप्पर आठ छोटे खंभों के आधार पर टिका हुआ है। इस प्रकार बनी हुई चार खिड़कियों में यात्रियों के सिर दिखलाई पड़ते हैं। तीन यात्री तो रास्ते के एक ओर देख रहे हैं और एक दूसरे ओर। गाड़ीवान छप्पर से आच्छादित जगह से बाहर बैठकर-यान संचालन कर रहा है। एक बात ध्यान देने योग्य है। खिड़कियों से यात्रियों के केवल सिर ही दिखलाई पड़ते हैं, अर्थात् उनकी कमर से लेकर गर्दन तक का भाग गाड़ी के पक्षों के पीछे ही छिपा रहता है। इस प्रकार पक्षों की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। मथुरा के कुषाण-कालीन शिलापट्ट पर[८४] लगभग छः गाड़ियाँ बनी हुई हैं। इनको ध्यानपूर्वक देखने पर निम्नांकित महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है—

८१—द्रष्ट० ६३, आकृति ८६

८२— ,, ६६ प्लेट १६ सी

८३— ,, ८० प्लेट १५

८४—द्रष्ट० ८०

(१) अनुकर्ष—साहित्य के अंतर्गत चर्चा करते समय हम कह आए हैं कि कोश के पेंदे को अनुकर्ष कहते थे। एक शिलापट्ट पर[८५] हम देखते हैं कि कोश को मजबूत करने के लिये अक्ष के सिवा एक अन्य अर्धवर्तुलाकार वस्तु भी लगी हुई है, जो आधुनिक स्प्रिंग (Spring) के समान मालूम पड़ती है। कदाचित् इसे ही 'अनुकर्ष' कहा जाता है। (चित्र संख्या ४)

(२) इन गाड़ियों में कभी कभी घोड़े भी जोते जाते थे।

दक्षिण के अमरावती[८६] तथा गोली स्तूप पर दिखलाई पड़नेवाली बैलगाड़ियाँ[८७] आकार-प्रकार में लगभग वैसी ही हैं जैसी आजकल मध्यप्रदेश में प्रचलित छप्परवाली बैलगाड़ियाँ होती हैं। कुछ गाड़ियों के छप्परों को आड़ी खड़ी रेखाओं द्वारा सुशोभित करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है ये छप्पर रंगे भी जाते रहे हों।

जलयान

कलाकृतियों में छोटी नाव, बड़े जहाज तथा राजनौका—तीनों के दर्शन होते हैं। छोटी नाव बुद्धगया से प्राप्त एक वेदिकास्तंभ पर देखी जा सकती है।[८८] यह निश्चित ही लकड़ी को कोरकर बनाई गई है। देखने में यह अर्द्धचंद्राकार है। इसमें तीन व्यक्ति बैठे हुए हैं। नाव के अगल-बगल उगी हुई कमल की कलियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि नाव तालाब या नदी में चल रही है, समुद्र में नहीं। साँची में भी इस प्रकार की एक नाव मिलती है[८९], जिसमें डाँडों का आकार भी देखा जा सकता है। यह नदी में चलती हुई दिखलाई गई है।

बड़ी नाव या जहाज भरहूत के स्तूप से प्राप्त एक शिलाखंड पर देखा जा सकता है।[९०] पानी में एक मनुष्यभक्षी तिमिंगल मत्स्य का होना ही इस

८५—द्रष्ट० ८०

८६— ,, ६८ प्लेट १०

८७—रामचंद्रन्, टी० एन्०, 'बुद्धिष्ट स्कल्पचर्स फ्रॉम ए स्तूप नियर गोली विलेज,' १६२६, प्लेट ३

८८—द्रष्ट० ६४ आकृति ५६

८९— ,, ६६, प्लेट ५१

९०— ,, ६३ आकृति ८५

बात को प्रमाणित करता है कि नाव समुद्र में है। यहाँ पर जहाज की बनावट भी ध्यानपूर्वक देखी जा सकती है। बड़े बड़े लकड़ी के तख्तों को लोहे (या ताँबे) की कड़ियों से जोड़-जोड़कर ये जहाज बनते थे। डाँड़े भी लंबे होते थे और उनका आकार हम लोगों के चम्मच सा होता था। आज भी इस प्रकार के डाँड़ों का व्यवहार बंबई जैसे बंदरगाहों पर होता है।

राजनौका का सुंदर उदाहरण हमें साँची के पश्चिम तोरण के द्वारस्तंभ पर मिलता है।[९१] आगे से यह नौका चोंचदार सिंह के मुख के आकार की है तथा पीछे से इसका आकार एक बड़े मत्स्य की ऊपर उठी हुई और अंदर की ओर मुड़ी हुई पूँछ के समान है। बीच में आयताकार क्षेत्र में एक मंडप पड़ा हुआ है जिसमें छत्र के नीचे कोई वस्तु दिखलाई पड़ती है (चित्र ६)। प्रस्तुत चित्र से यह पता नहीं चलता कि नौकावाहकों का स्थान कहाँ था। यह नौका रँगी भी जाती रही होगी तथा इसमें सभी प्रकार के आराम का ध्यान रखा जाता रहा होगा।

शिविका

शिविकाओं के सुंदर नमूने हमें अमरावती के स्तूप से प्राप्त शिलापट्टों पर मिलते हैं।[९२] ये लगभग ई० पू० द्वितीय शताब्दी के हैं। यहाँ दो प्रकार की पालकियाँ दिखलाई देती हैं-- एक छोटी और एक बड़ी। छोटी पालकी में केवल एक ही मनुष्य बैठ सकता था। आकार में यह 'चतुरश्रय' या चौकोर होती थी तथा इसके ऊपर मंडपाकार आवरण रहता था (चित्र ३)। आवश्यकता पड़ने पर अगल-बगल पर्दे भी छोड़ते रहे होंगे। दूसरे प्रकार की शिविका आकार में काफी बड़ी और खिड़कियों तथा शिखरों से युक्त होती थीं। आवश्यकतानुसार इन खिड़कियों को खुली या बंद रखा जा सकता था। इनमें एक से अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे।

वायुयान

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वायुयान देवताओं के यान को कहते थे। सत्य सृष्टि में इसकी स्थिति थी अथवा नहीं, यह संदेह का विषय है। मथुरा से

९१—द्रष्ट० ६६, प्लेट ६५ ए

९२—द्रष्टव्य ६८

प्राप्त एक कुषाणकालीन शिलापट्ट पर पूजा-यात्रा का दृश्य उत्कीर्ण है।[९३] *यहाँ 'हंसयान' में बैठकर कुछ देवतागण पूजा के लिये आए हुए दिखलाए गए हैं। यहीं इस यान के दर्शन होते हैं। यह यान एक बंद कक्ष सा है। कक्ष में एक दरवाजा भी दिखलाई पड़ता है। कक्ष मुड़े हुए छप्पर से आवृत है। उसके* चारों ओर वेदिका बनी हुई है, जिसके चारों कोनों पर पंख खोले हुए हंस हैं जिनमें से केवल तीन ही प्रस्तुत चित्र में देखे जा सकते हैं (चित्र संख्या ५)।

इस प्रकार प्राचीन भारत की ये कलाकृतियाँ हमें भारतीय यानों की विविधता का सुंदर दर्शन कराती हैं। साहित्य में यानों की जो विपुलता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य वर्णित है उसकी अच्छी सी झलक हमें कला में मिल जाती है। इन यानों के सिवा यात्रा को सुकर बनाने में घोड़े, बैल, हाथी इत्यादि जानवर वाहन-रूप से बड़ी सहायता करते थे। इनका विशद विवेचन भी बड़ा मनोरंजक होगा।

९३—द्रष्टव्य ८०

साहित्य के साथ कला का संबंध

[ले० श्री वासुदेवशरण]

हिंदी साहित्य के साथ ललित कलाओं का घनिष्ठ संबंध रहा है, कारण कि रीतियुग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिका एवं राग-रागिनियों को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला की एक विशेषता थी, तथा संगीत के स्फोटात्मक नाद ने भी साहित्यिक पदों के रूप में मूर्त रूप ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्यिक ग्रंथों की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि उनके प्रतिभाशाली लेखकों ने कला के उपकरणों का अपने काव्य-ग्रंथों में यथास्थान बड़े सुंदर ढंग से सन्निवेश किया है। लोक का रहन-सहन, बेष-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वस्तुओं के द्वारा साहित्य और कला दोनों का ही शरीर मंडित होता है। साहित्य में इस सामग्री का वर्णन और कला में उसी का चित्रण देखा जाता है। किसी भी युग की कला के स्वरूप का सांगोपांग वर्णन करने के लिये पारिभाषिक शब्दों का अक्षय भंडार तत्कालीन काव्य और साहित्य-ग्रंथों में ढूंढ़ने से मिल सकता है। साहित्य और कलाओं का यह घनिष्ठ संबंध अध्ययन का अत्यंत रोचक विषय है। इसकी परस्प-रोपयोगिता को देखते हुए कहना पड़ता है कि बिना कला की मर्मज्ञता के साहित्यिक अध्ययन अधूरा रहता है, और बिना साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है। जिस लोक-जीवन की उमंग ने साहित्य और कला दोनों को साथ जन्म दिया था उसके 'कृत्स्न' स्वरूप का परिचय साहित्य और कला के युगपत् अध्ययन पर ही निर्भर है। कला और साहित्य के घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम दो उदाहरण देते हैं, एक जायसी के पद्मावत से और दूसरा तुलसीदास के रामचरितमानस से। समकालीन स्थापत्यकला की दृष्टि से दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यथा, सिंहलद्वीप में गढ़ का वर्णन—

पौरिहि पौरि सिंह गढि काढ़े। डरपहिं लोग देख तहँ ठाढ़े॥
बहुविधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥

टारहिं पूँछ, पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा ॥
कनकसिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं ॥
नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरै पार ॥
(पद्मावत, पृ० १७)

इसके कुछ परिभाषिक शब्द, इस प्रकार हैं—पौरी (द्वार, प्रतोली); नाहर या सिंह, जो प्रतोली द्वार पर बनाए जाते थे; गढ़ि काढ़े (निकली हुई उकेरी, Carved in relief); पसारहिं जीहा (जीभ बाहर निकाले हुए, with protrudiug tongues); बहुविधान (भाँति भाँति के रूपों के लिये जायसी ने यह शब्द बोलचाल की भाषा से लिया है; various designs); गढ़ना (Carving); खंड (तल्ला, भूमि, Storey); नव खंड (नौ भूमिका)। जीभ पसारे हुए नाहर हमारी कला का एक पुराना अभिप्राय (motif) है।

इसी प्रकार रामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के बाद विवाह की तैयारी के समय जनकपुर में वितान-निर्माण का वर्णन समकालीन वास्तुकला की पारिभाषिक शब्दावली के द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए ॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥
हरषि चले निज निज गृह आए। पुनि परिचारक बोलि पठाए ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिरु धरि बचन चले सचु पाई ॥
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना ॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा ॥

दो०—हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुम राग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल ॥ ३१९ ॥

चौ०—बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे ॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई ॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिचि बिच मुकुता दाम सुहाए ॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किए भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा ॥

सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं ॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनि-मय सहज सुहाईं ॥
दो०—सौरभपल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि ॥
हेम बवरि मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि ॥३२०॥
(बालकांड)

हीरा, पन्ना, लाल, पिरोजा आदि रत्नों की पच्चीकारी के द्वारा बेलों के भाँति-भाँति के बंधों का निर्माण तुलसीदास की समकालीन वास्तुकला की अपूर्व विशेषता थी। कवि ने उसका एक सुंदर रूप हमारे सामने खड़ा किया है। चीरि, कोरि, पचि—ये शब्द उत्कीर्ण करने की विविध शैलियों को सूचित करते हैं। खंभों पर देव-प्रतिमाओं को गढ़कर काढ़ना (Carving in relief) प्राचीन भारतीय शिल्प की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी जिसका उल्लेख बाण आदि कवियों ने स्तंभों की शालभंजिका नाम से किया है। कालिदास में 'स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानाम्' (रघुवंश, १६।१७) में खंभों पर गढ़कर काढ़ी हुई मूर्तियों का वर्णन किया है। ऊपर के पारिभाषिक शब्दों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

हाट = बाजार; मध्यकालीन नगरों के वर्णनों में ८४ हट्टों का उल्लेख आता है (द्र० प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ, मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित, पृथ्वीचंद-चरित्र, पृ० १२६)। 'मंदिर' और 'सुरबासा' में यहाँ भेद है। मंदिर = राजभवन या महल। रामचरितमानस में कितने ही स्थानों पर मंदिर का यही अर्थ है। जैसे,

अति लघुरूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥
गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥
सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥
(सुंदरकांड ५।४—८)

हरि-मंदिर छोड़कर शेष स्थानों में 'मंदिर' का अर्थ 'महल' है। राजस्थान में आज तक सुखमंदिर आदि महलों के विशेष भागों के नाम होते हैं। मंदिर के बाद 'सुरबासा' 'देवस्थान' के लिये है, जो आजकल का मंदिर हुआ। चारिहुं

पासा = चारों ओर, पार्श्व, तरफ। यहाँ तीन प्रकार के लोगों का वर्णन है। राजा जनक ने पहली कोटि में 'महाजनों' (धनी व्यापारियों) को बुलवाया जिनसे नगर सजाने को कहा गया। उन लोगों ने परिचारक बुलवाए जो वितान बनानेवाले कार्याध्यक्ष या सेवक हुए। परिचारकों ने 'गुनी' अर्थात् कारीगरों को बुलाया। ये गुनी ही वास्तविक वितान-विधि के बनानेवाले थे। 'बितान' से तात्पर्य है मंडप या दरबारी शामियाना। अरंभा = निर्माण-कार्य का आरंभ। कनक कदलि के खंभा = केले के आकार के सोने के खंभे अथवा सुवर्ण-कदली के खंभे; परंतु पहला अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। केले के खंभों में हरित मणि या हीरे के पत्ते और फल, और पद्मराग के फूल बनाए गए। पुनः हरित मणि के ही बाँस बनाए गए जो सरल (सीधे), सपरब (पोरदार) थे, पर पोरियाँ पहचान में नहीं आती थीं। सोने की अहिबेलि (नागबेल) बनाई गई। यह 'सपरन', अर्थात् पत्तों के साथ थी। उसी बेल को घूम-घुमावों में बनाकर बंध डाले गए। भाँति-भाँति की आकृति के मोड़ ही बंध हैं। बेल या लतर की विविध रचना से बंधों की आकृति पैदा की गई। मुगल-कालीन वास्तुकला में इस प्रकार के बंध कई भाँति के रंगीन पत्थरों की पच्चीकारी करके बनाए जाते थे। इसी लिये कहा गया है 'तेहि के रचि पचि बंध बनाए'। उनके बीच-बीच में मोतियों की मालाएँ (अंग्रेजी पर्ल फेस्टून) लगी हुई थीं। इन बेलों के बंधों में सबसे दर्शनीय वस्तु सरोज या फुल्ले थे जो मुगलकालीन कला की विशेषता हैं। ये फुल्ले माणिक्य, मरकत, हीरा और पीरोजा, इन चार रत्नों को चीरकर, कोरकर और पच्चीकारी करके (चीरि, कोरि, पचि) बनाए गए थे। कारीगर लोग संग (पत्थर) को पहले तार लगी कमान से कुरंड का रेत डालकर काटते हैं, यह हुआ संग का चीरना। फिर उसे घिसकर चिकना करते हैं, यह कोरना है। और अंत में उसे पच्ची करते या खोदकर यथास्थान बैठाते हैं। खंभों पर कढ़ी हुई देवमूर्तियों का गढ़ना भी मंदिर-वास्तु की विशेषता थी। 'कढ़ी हुई' के लिये अंग्रेजी प्रतिशब्द 'रिलीफ' है। चौक पूरना भी वास्तु का शब्द है। घरों के आँगन की सजावट के लिये सारे देश में एक प्रकार की कला प्राचीन काल से चली आती है। उसे बंगाल में अल्पना (सं० अलिम्पन), बिहार में 'ऐंपन' (सं० अतिलर्पण), राजस्थान में 'मांडने' (सं० मंडनक), गुजरात-महाराष्ट्र में 'रंगोली' (रंग वल्ली), दक्षिण में 'कोलम' और उत्तरप्रदेश में 'चौक पूरना' कहा जाता है। गजमोतियों के चौक पूरने का अभिप्राय लोकगीतों में प्रायः मिलता है। नवीं शती के सोमदेवकृत 'यशस्तिलक' चंपू ग्रंथ में रंगवल्ली या

रंगावलि का उल्लेख आता है (यशस्तिलक, १।३५०;२।२४७; = चतुष्क)। अतएव यह कला इस देश में उससे भी प्राचीन होनी चाहिए। अंत में कहा गया है कि सौरभ-पल्लव या आम के पत्ते नीलम को कोर करके बनाए गए। उनमें सोने का बौर या मंजरी और मरकत की घौर या फलों के गुच्छे लगाए गए।

उपलब्ध हिंदी साहित्य में कला की बहुत सामग्री है। चित्र, शिल्प, वास्तु सबका वर्णन यथास्थान मिलेगा। वस्त्रों के नाम, गहनों के नाम, अस्त्र-शस्त्रों के नाम आदि का उल्लेख साहित्य से अधिकाधिक संकलित करना चाहिए। चित्रों का भंडार तो साहित्य की कुंजी से ही ठीक ठीक खोला जा सकता है। नायक-नायिका, राग-रागिनी, ऋतु, बारहमासा, अष्टयाम आदि के सहस्रों चित्रों को काव्य के साथ जोड़ दें तो उन्हें वाणी मिल जाती है। कृष्ण-लीला के राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों की व्याख्या की सामग्री सूर के काव्य में है। सूरसागर, बिहारी-सतसई, केशव की रसिकप्रिया, रामायण, भागवत आदि ग्रंथों के भावों को चित्रकारों ने चित्रों में मूर्त रूप दिया है। उस अमूल्य निधि को ठीक तरह जानकर साहित्य का अंग बनाकर देखना होगा। चित्र और साहित्य दोनों एक ही सांस्कृतिक प्रेरणा से जन्मे। अतएव उनमें आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का गहरा संबंध है।

पृथिवीपुत्र

[श्री मैथिलीशरण गुप्त]

[*मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' के प्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादकर्ता श्री ए० जी०* शिरफ ने कविवर मैथिलीशरण गुप्त की 'पृथिवीपुत्र' शीर्षक कविता के उत्कृष्ट भाव से प्रभावित होकर तथा उसे विश्वकाव्य की वस्तु मानकर उसका अंग्रेजी रूपांतर प्रस्तुत किया है। मूल कविता कवि की 'पृथिवीपुत्र' नामक पुस्तक में संगृहीत है तथा अनुवाद अंग्रेजी की 'आर्ट एंड लेटर्स' (इंडिया सोसाइटी, लंडन) नाम की अंग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। मूल कविता और अनुवाद कवि और अनुवादक की अनुमति से 'पत्रिका' के पाठकों के परिचयार्थ यहाँ उद्धृत हैं।—सं०]

माताभूमि और पृथिवीपुत्र

माताभूमि

पुत्र-गर्व-गौरव से गरिमामयी हूँ मैं ;
मेरा यह इतना विशाल क्रोड़ उसके
एक क्रीड़ा कूर्दन के योग्य अब है कहाँ ?
जल-थल-व्योम में अबाध गति उसकी !
मंगल-निवासी बंधुओं से भेंट करके
सारे ग्रह-लोक घूमने को वह व्यग्र है !
बाष्प और विद्युत हैं किंकर-से उसके ;
उसके समक्ष खड़ी अचला-सी चंचला !
हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है।
भौतिक विभव ऐसा देखा कब किसने ?
लोहहयारूढ़ यंत्र माया-तंत्र उसके ;
सच्चा ऐंद्रजालिक-सा आज वह कौतुकी !
कर रहा नित्य नए आविष्कार अपने ;
सिद्ध-सी हुई है महाशक्ति उस शाक्त को !
किंतु वाममार्गियों का रक्षक है राम ही।
राम, मेरी संतति की कोई गति क्यों न हो
सीता के समान उसे और किसे सौंपू मैं ?
आया वह, कैसे कहूँ, आज कहाँ जाने को।

EARTH AND HER SON

(Translated from Maithilisaran Gupta, by A. G. Shirreff)

Sri Maithilisaran Gupta (born 1886) attained early fame as a nationalist poet by his Bharat Bharati. The present work, Prithiviputra, was published last year. A competent Indian critic writes, "When I first read this poem, I said, 'This belongs to world poetry.'" That I agree with this judgment is my excuse for attempting a translation.

Earth

Mother Earth am I, who watch with pride
The prowess of my progeny;
My lap no longer can provide,
Wide as it is, a playground fair
For one who is in three elements free—
Free in water and land and air,—
And now is tip-toe poised to spring
Through interplanetary space
From orbit to orbit, visiting
The farthest kinsmen of our race.
Lightnings and vapours are vassals to serve him;
Fortune makes stable her wheel to preserve him;
Life's elixir, philosopher's stone,
All that this world can give is his own;
Steeds that are tireless with sinews of steel
Toil for their master with shaft and wheel;
Many inventions he has sought out,
And magic is his beyond all doubt.
God grant his fancies may not stray
To magic of the left-hand way !
Thou who didst fashion him of my dust,
To Thee I commit him; accept my trust !
See where he comes, but whither going
That is what I would fain be knowing.

पृथिवीपुत्र

अंब, नई यात्रा का मुहूर्त्त मेरा आ गया।

माताभूमि

बैठ मेरे बच्चे तू, डिठौना तो लगा दूँ मैं,
लेकर प्रदीप्त-स्नेह मैंने जो बनाया है।
अन्य भूत-दृष्टि-बाधा व्यापे नहीं तुझको,
तेरे सिर यों ही एक प्रेत चढ़ा बैठा है!

पृथिवीपुत्र

नाम मिटा डालूँगा स्वयं मैं जरा-मृत्यु का
अपने प्रयोगों से, परंतु क्या सदैव ही
बच्चा ही रहेगा अंब, पुत्र तुझ पृथ्वी का?

माताभूमि

अर्थ इसका तो यही, मैं मातृत्व छोड़ दूँ;
ठीक ही है, अब तो तू व्योमचारी हो गया!

पृथिवीपुत्र

मेरी बात समझे बिना ही रुष्ट हो गई!
छूटे नहीं तेरे व्यर्थ वे संस्कार आज भी
आदिमयुगीन! हाय, भूत-बाधा अब भी?

माताभूमि

ये संस्कार मेरे भले तेरे युग-भार से,
जब भी न जाऊँ मैं तलातल-वितल में!
और सच कह तू, क्या बच्चा नहीं अब भी
सर्वथा अबोध! मारा-मारी करता हुआ
डोलता है, खेलता है गोलियों से अभी भी!

Son

Mother, my hour is come to start
On a new journey.

Earth

Ere you depart,
Sit by me, child, while I weave a charm
To guard you from all ghostly harm.
This mark I print your brows above,
Emblem of a mother's love,
Will ward off every deadly shape—
Save One from whom is no escape.

Son.

Is it Death that you speak of,—death and decay ?
Trust me to deal in my own way
With these and destroy them. You do ill
To treat me as a baby still.

Earth

So, Earth must renounce a mother's right
Now that in air you take your flight !

Son

What, you are angry ? But you miss
My meaning, Mother. It was this,—
You are old, old, old, as old as Time.
A brave new age requires no spell
To guard it against the powers of hell,
Those outworn phantoms of your prime.

Earth

To powers of hell though you pay no heed,
My ancient spells you yet may need.
You still are a child for all you say,
And your mind is set on toys and play;
Why, even now at a base you stand
To throw that marble you hold in your hand.

पृथिवीपुत्र

(हँसकर)

गोलियाँ कहाँ माँ, देख, अब यह गोला है !

माताभूमि

गोली नहीं गेंद सही ।

पृथिवीपुत्र

तेरे स्थूल रूप-सा !

आप भी तो गोल है तू !

माताभूमि

किंतु क्या है इसमें ?

पृथिवीपुत्र

आप निज गोलक में क्या-क्या धरे बैठी तू,
ज्ञात नहीं; तो भी सुन, मेरे इस गोले में
मेरा नया आविष्कार ।

माताभूमि

आवश्यकता तुझे
इसकी हुई क्यों ?

पृथिवीपुत्र

इसे खेल ही समझ तू ।
मेरे इस कंदुक की एक ही उछाल में
विश्व का विजय मुझे प्राप्त हुआ रक्खा है !

माताभूमि

तू क्या बकता है अरे, क्या है कह इसमें ?

Son (laughing)

A marble ? No, it is something bigger.

Earth

What is your plaything, then ? A ball ?

Son

You may call it that, for in compass small
It copies the shape of your own wide figure.

Earth

What is in it ? Say.

Son

I will do as you bid,
And tell you, though it still remains
A secret what your orb contains.
In this ball that I hold is hid
The latest of my discoveries.

Earth

And what is the need that it supplies ?

Son

Why, if you count it as a game,
"King of the Castle" might be its name,
For I shall have victory over all
The world with one bounce of this ball.

Earth

What idle folly is this you prate ?
I still am waiting to be told
What lies hid in that ball you hold.

पृथिवीपुत्र

कालानल ! विद्रोही-विपक्षी जहाँ मेरे जो ,
सर्वनाश उनका ! अधिक और क्या कहूँ ,
तेरे उस ज्वालामुखी से भी यह सौ गुना ।
किंवा तू करोड़ों वर्ष आप जिस ज्वाला में
जलती रही थी, वही आ समाई इसमें ।
सिहर उठी तू यह, क्या उसी की स्मृति से ?

माताभूमि

शांत पाप, शांत ताप, शांत बुद्धि-शाप हो !
मान लिया, सविता-सुता मैं जलती रही ;
धो दिया था मेरा दाह मेरी बाष्प-वृष्टि ने ।
मेरी अग्नि-शुद्धि में क्या ऐसी द्वेष-बुद्धि थी ,
जैसी इसमें है भरी ? मुग्ध, तेरी ईर्ष्या ने
खोजा है कहाँ से यह सर्वनाश सहसा ?
बोल, तेरे कौन बंधु लक्ष्य होंगे इसके ?

पृथिवीपुत्र

बंधु नहीं वैरी ! अंब, मेरे विश्व-जय के
यज्ञ-पशु-मात्र !

माताभूमि

उन्हें वैरी भले कह तू
मैं तो उनकी भी प्रसू, तात, जैसी तेरी हूँ ।

Son

What lies hid ? The fire of Fate !—
A fury of flame that shall devour
Every rebel against my power.
Less fierce than this by a hundred-fold
Are the lava-streams from your craters rolled,
For it is compacted of those rays
With which your vitals were ablaze
For many million years. I see
You shudder at the memory.

Earth

God sain you and save you from sin and blame !
Since I was cast out by the Sun, my sire,
I dreed my penance and purged my shame
In tears of vapour and torment of fire.
That fire by which I was purified,
Did not, like yours, from malice spring;
For malice it is and senseless pride
That have brought forth this fearful thing.
How will you use it ? Answer me.
Which of your kinsmen are to be
The targets for this fell device ?

Son

Not kinsmen, foes ! They shall be hurled
Like sheep to the shambles, a sacrifice
To grace my conquest of the world.

Earth

How can you call them foes ? They too
Have life from me, no less than you.

पृथिवीपुत्र

तू तो उनकी भी प्रसू, हिंसक जो मेरे हैं !
जिस दिन जन्म हुआ मेरा, उसी दिन से
मेरे मारने को मुँह खोले खड़े आज भी।
मेरी बुद्धि ने ही मुझे उनसे बचा लिया;
पत्थर ही मार उन्हें मैंने निज रक्षा की।
अग्नि को सहायक बनाया फिर अपना;
लोहे के कृपाण और बाण तो थे पीछे के।
आज मेरे कुत्ते बने व्याघ्र उस काल के;
मेरे एक अंकुश के वश में द्विरद है।
मैंने ही निकाल विष भीषण भुजंगों का
सिद्धरस-योग बना डाला बहु रोगों का।

और—

माताभूमि

मानती हूँ, बड़ा धूर्त्त था तू सबमें
किंतु वे सरीसृप वा पशु ही हैं, उनमें
ज्ञान का अभाव है, तू वैज्ञानिक जीव है।
मारता है फिर भी मनुष्य तू मनुष्यों को !

पृथिवीपुत्र

अंब, वे मनुष्य हैं वा बर्बर हैं, वन्य हैं ?

Son

They have life from you, yet it is they
Who injure me in every way.
Since the day that you gave me birth
These other children of the earth
Have lain in wait to overpower me,
With tooth and claw to rend and devour me.
I have saved myself by my sapience;
First, I flung stones in self-defence;
Alliance then with fire I made
And fashioned of iron dart and blade;
The fiercest beasts of prey became
My hounds and answered to their name;
The tusk' d Behemoth I bestrode,
Making him docile to my goad;
In poison fangs I found a store
Of healing medicines, and—

Earth

No more !

You have surely shown yourself to be
The subtlest of my progeny !
But these that you boast to have destroyed,
Or tamed and to your service bound,
Are creatures that crawl upon the ground
Or beasts of the field, of reason void.
You that have reason, how can you plan,
A man, to slay your fellow man ?

Son

Can you call them men, those savages,—
Wild men of the woods ?

माताभूमि

एक दिन तू भी उनसे भी बड़ा वन्य था ;
आकृति तो पलटी है, प्रकृति वही रही
तेरी ।

पृथिवीपुत्र

अंब, मेरी और उनकी क्या तुलना ?
योग्यतम का ही आधिपत्य सदा योग्य है ।

माताभूमि

उनमें भी ऐसे योग्य क्या हो नहीं सकते ,
तेरा यह आविष्कार अणु-सा उड़ा दें जो ?
दूसरों को बार बार वन्य कहता है तू ,
देखे नहीं आरण्यक तूने, यदि देखता ,
भूल जाता दंभ निज नागरिकता का तू ।
किंतु मैंने देखे हैं, इसीसे कहती हूँ मैं ,
देखते थे सबमें वे अपने ही आपको ।
लोभ न था उनको किसी के धन-धाम का ;
भोग में नहीं, वे त्याग में ही तुष्टि मानते ।
किंतु दीखती है आज बाहर से अर्थ की ,
भीतर से काम की ही मुख्यता मनुज में ।
धर्म और मोक्ष दो विनोद उन दोनों के !

Earth

You were once as wild,
Ay, wilder than the worst of these.
And still a savage you are, my child.
All that is changed is the outer frame;
Your inner nature is the same.

Son

What comparison can there be
Between barbarians and me ?
I am far the abler, and thereby
Can rightly claim supremacy.

Earth

Yes, you are able, it is true,
But others may be able too,--
Able to shatter and atomize
The invention that you value most.
That you have culture is your boast,
And these your kinsmen you despise
As men of the woods, but, had you seen
The forest dwellers of olden time,
As I beheld them in my prime,
Abandoned would that boast have been.
They lived not for themselves but others:
They thought of all men as their brothers:
They sought not power or wealth: in giving
They found delight, not in receiving.
You differ from them in thought and deed:
The human aims that now are rife
Are the lust of the flesh and the pride of life;
The higher aims of an earler creed,
Piety here and bliss hereafter,
Are themes today for scornful laughter.

पृथिवीपुत्र

तो क्या कहती है फिर पीछे लौटने को तू ?

माताभूमि

ऐसा करना न तेरे हाथ है न मेरे ही ;
खेत भला किंतु बिना नींव के निकेत से ।

पृथिवीपुत्र

जैसे सही, मान गई भित्ति से भवन तू ;
मेरा इसी भाँति हुआ क्रमिक विकास है ।

माताभूमि

विकसित ईशु से भी दो सहस्र वर्ष तू
आगे !

पृथिवीपुत्र

हाँ, जुडास से सहस्रों गुना सभ्य मैं ।

माताभूमि

मैं तो देखती हूँ, लाख-लाख गुना तुझमें
विकसित गृध्र वही, साधनों के साथ है !

पृथिवीपुत्र

अंब, कुछ कह तू, परंतु एक सबका
शासक हूँ मैं ही, तुझे शीघ्र दिखा दूँगा मैं ।

Son

Would you have me go back and begin anew ?

Earth

That neither you nor I can do-
Yet better to couch on the bare ground
Than, where foundations are unsound,
In a high-storeyd house to dwell.

Son

Houses of clay, as you know well,
Are built up slowly, wall by wall;
My uplift, too, has been gradual.

Earth

Sure, twenty centuries since Christ
For uplift should have well sufficed !

Son

They have sufficed, for am I not
More civilized than Iscariot
A thousand Times ?

Earth

And to what good,
If, with the progress I behold in you,
The Judas vulture-thirst for blood
Is multiplied a million-fold in you ?

Son

Say what you will, you soon shall see
That I am the whole world's lord and master.

माताभूमि

पर मैं करूँगी गर्व कैसे उस जय का ?
एक केतु पूँछ फटकार कर नभ में
किसको डराता नहीं अपने उदय से ?

पृथिवीपुत्र

युद्ध से ही युद्ध को समाप्त कर दूँगा मैं।

माताभूमि

एक के अनंतर अपेक्षा एक युद्ध की ;
देखती मैं आ रही हूँ, ज्ञात नहीं कब से।
एक सदुद्देश्य कहके ही सब जूझे हैं ;
किंतु एक इति में जुड़ा है अथ दूसरा !
शासक का नाम रख त्रासक ही होगा तू ;
भय से जो बाध्य होंगे साध्य होंगे क्या कभी ?
अनुगत होंगे घात करने को पीछे से !
तेरे पहले भी हुए कितने विजेता हैं ;
किंतु जनता ने उन्हें नेता कहाँ माना है ?

पृथिवीपुत्र

छोड़ूँगा नहीं मैं कहीं कुत्सित-कदर्य को।

माताभूमि

कुत्सित-कदर्य किसे कहता है, तू भला ?
एक दृष्टिकोण से ही देखा नहीं जाता है।
होता नहीं नष्ट कर देने योग्य मल भी ;
उसका भी सार बना लेने में बड़ाई है,
वृद्धि पावे जिससे हमारी शस्य-संपदा।
कुत्सित-कदर्य स्वयं तू ही न हो पहले ;
इधर उठाता और ढाता है उधर तू।

Earth

Can I glory in such a victory ?
No glory, but terror and disaster
That star portends which bursts and spreads
Its meteor glare above men's heads.

Son

The war that I wage shall end all war.

Earth

How often have I seen of yore
A new war press on an old war's traces !
And those who wage war still lay claim
To wage it for some righteous aim,
Till some fresh aim the first replaces.
The sceptre that you seize will be
An iron rod of tyranny.
No ruler can lead on the right track
Subjects whom terror must control:
And if they follow, their only goal
Will be to stab him in the back.
Many a conqueror have I seen
Before your day, but none has been
As leader revered by the human race.

Son

I shall leave nothing mean or base
In all my realm.

Earth

But what is due
For extirpation as base and mean
Must still depend on the point of view;
Ordure, though common and unclean,
Is worth preserving when it yields
A richer foison from my fields.
"Base," "mean" are terms I might employ
For you, whose pride is to destroy.

तो भी कहता है, अब बालक नहीं हूँ मैं !
बालक भला था, आज पागल हुआ है तू।
अथवा मैं पागल भी कैसे कहूँ तुझको,
तेरे सब तंत्र आज सीधे षडयंत्र हैं।
नाम कुछ और, हाय काम कुछ और है !

पृथिवीपुत्र

तो क्या चाहती है तू, बता दे यही मुझको।

माताभूमि

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।
मेरे जात सारे जंतुओं में मुख्य तू ही है;
किंतु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझमें,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू,
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग-भेद भूल के।
जा तू, विश्व-मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो।
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़ संग लिए सबको;
सबके लिये तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि, विलसे विकास में;
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का !

You say you are no more a child;
A child you were, but now I see
In all your thoughts and deeds the wild
Derangement of insanity.
I am sad for this, but yet more sad
To think that your schemes,—sheer wickedness,
Beneath a cloak of cleverness,—
Brand you as rather bad than mad.

Son

Tell me, Mother, what is your will?

Earth

To see you greater and greater still.
But of my teeming family
Though you are chief, and occupy
The highest order, you must be
Exalted by humility.
You must have the courage to lay aside
All pretensions of false pride:
Your private will you must enrol
In the militia of the whole:
All distinctions you must efface
Of caste and class, of land and race,
And as citizen of the world must be
The servant of humanity:
Not fear but love, not might but right
Must rule your thoughts and deeds aright.
So rise to your full stature, stride
The unimagined heights to reach
With all creation at your side,
Each for all and all for each.
Those powers of mind that were bent upon
Destruction as their baneful aim
Shall vaunt a worthier victory won,
And I be proud that I can claim
To be the mother of such a son.

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र

संकलन

तथा

संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ
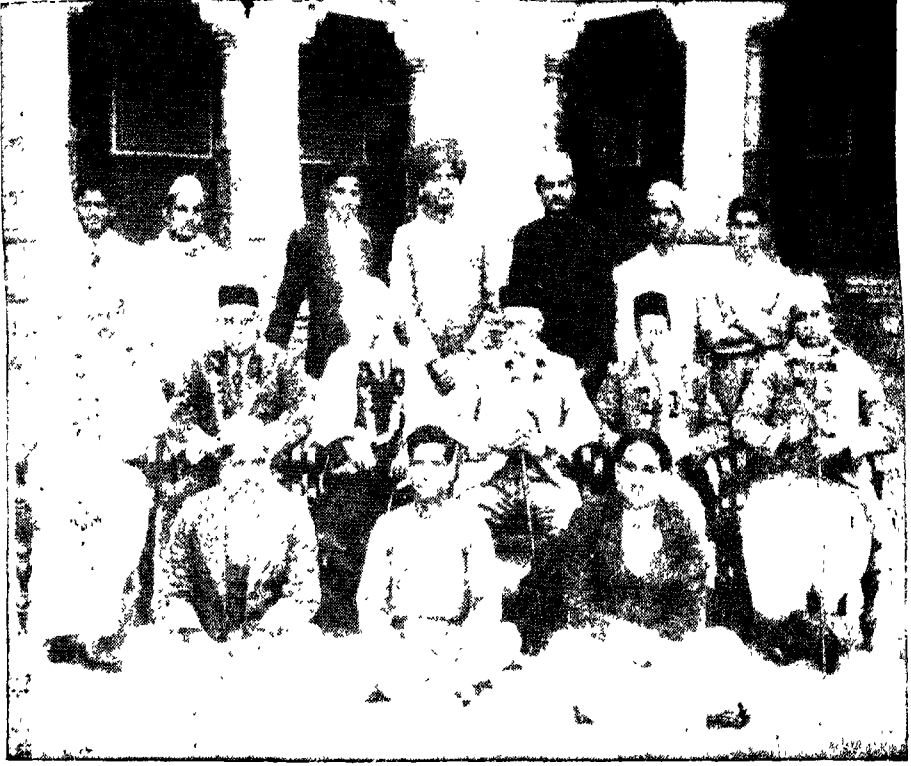
आचार्य मिश्र जब सेंट्रल हिंदू कालेज में प्राध्यापक थे।

बाईं ओर से कुर्सी पर बैठे हुए—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री रामचंद्र शुक्ल, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री श्यामसुंदरदास (हिंदी विभाग के अध्यक्ष), डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, श्री केशवप्रसाद मिश्र।

अपनी सहज मुद्रा में

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्णजयंती के अवसर पर आचार्य मिश्र अभिनंदन पढ़ रहे हैं। उनके बाईं ओर गुप्त जी तथा सामने दाहिनी ओर काशी-नरेश महाराज आदित्यनारायण सिंह आसीन हैं।
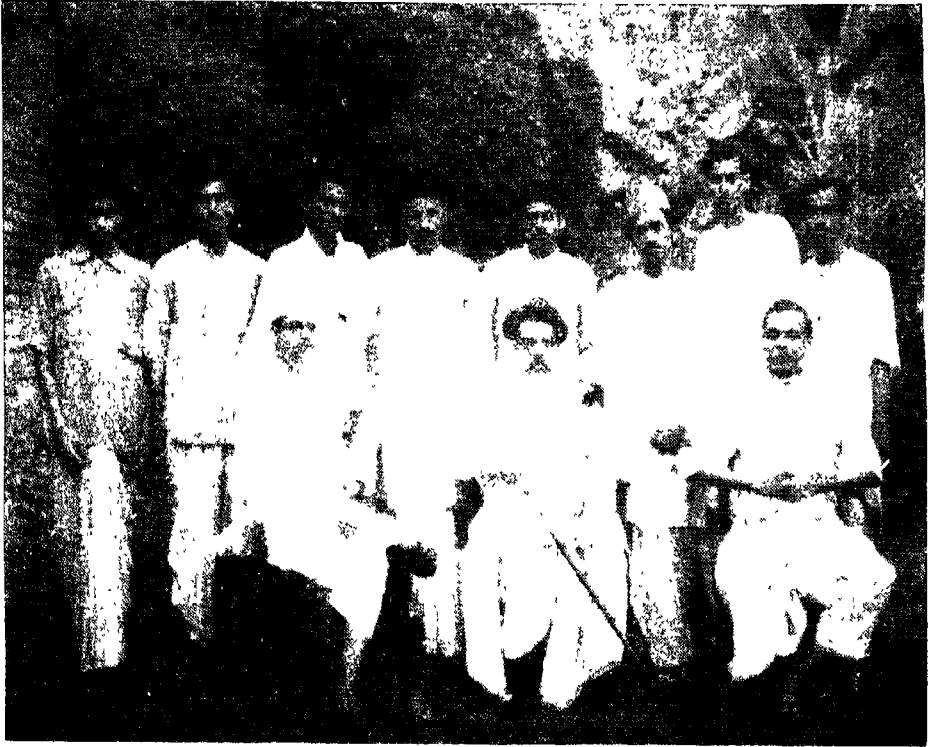
उक्त अवसर पर गुप्तजी के साथ तुलसी-मीमांसा-परिषद् के सदस्यों का चित्र। बाईं ओर से खड़े—श्री रमाशंकर, श्री वृषकेतु उपाध्याय, श्री शिवनारायण लाल, श्री मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर', श्री कृष्णानंद, श्री पद्मनारायण आचार्य, श्री कमलाकर अवस्थी 'अशोक', श्री अभयप्रसाद उपाध्याय। कुर्सी पर बैठे हुए—श्री रायकृष्णदास, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री केशवप्रसाद मिश्र (परिषद् के अध्यक्ष)।

संकलन

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की कुछ रचनाएँ नमूने के रूप में यहाँ उद्धृत हैं, जो अपनी अल्प मात्रा में भी यह ज्ञापित करने में पूर्णतया समर्थ हैं कि संस्कृत, हिंदी एवं अंग्रेजी तीनों भाषाओं में उनके सरस भावों तथा गंभीर विचारों को व्यक्त करने में उनकी लेखनी कितनी शक्त और सफल रही। संस्कृत तथा हिंदी के पद्य केवल उनका इन दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार ही नहीं प्रकट करते, अपितु उनकी विशिष्ट काव्य-प्रतिभा एवं सहृदयता का भी पूर्ण परिचय देते हैं। 'उच्चारण' तथा 'ऌ'—केवल ये दो निबंध भी लेखक को उच्च कोटि का निबंध-लेखक होने का यश प्रदान करते हैं। 'स्वागत-भाषण' स्वागत-भाषण होने पर भी अत्यल्प शब्दों में हिंदी काव्यधारा के प्रति उनकी ठोस और संतुलित आलोचना-दृष्टि का परिचायक है। इसके बाद के दोनों लेख उनकी प्रसन्न-गंभीर विचारधारा तथा उनकी तीव्र किंतु संयत एवं आकर्षक तर्कशक्ति के स्पष्ट द्योतक हैं।

आशंसा

कियच्चिरं भारति ! भारतं तव प्रसादमासादयितुं प्रतीक्षताम्।
पुना रसज्ञासु निषिच्यतां सुधा यया बुधाः स्युर्विविधाऽबुधा अपि ॥ १ ॥
भवन्तु वल्मीकभवा भवान्तरे गिरश्च कल्याणकरीः किरन्तु ते।
यथा शरै रामधनुर्विनिर्गतैः शिरांसि भूमौ विलुठन्तु रक्षसाम् ॥ २ ॥
पुनश्च पुत्राः पितृशासने स्थितास्तृणाय मत्वा निजसौख्यसंपदः।
जिगीषया यान्तु विदेशमम्भसां निधिं च मथ्नन्तु बलैर्महोर्जितैः ॥ ३ ॥
पुनः शबर्यस्तु जनेन मानिता लभेत गृध्रोऽपि निवापसत्क्रियाम्।
न ना निषादोऽपि विषादमुद्वहेत्तिरस्कृतः किन्तु पुरस्कृतो भवेत् ॥ ४ ॥
भवन्तु मित्राणि न केवलं नराः स्ववानरा अप्यनुकूलचारिणः।
यथा जयः स्यात् सकले महीतले पुनः पुनर्भारतभूमिजन्मनाम् ॥ ५ ॥
सहस्रशः सन्तु विशालबुद्धयो विवेकिनः सत्यवतीसुताः पुनः।
यदीयवाग्वीर्यनवीकृता जना भवन्तु सर्वे दृढकर्मयोगिनः ॥ ६ ॥
पुनः कलं कूजतु कालिदासवाग् वदावदानानि च बाणवाणि ! नः।
दलन्तु भूयो भवभूतिभाषितानुभावभूम्ना हृदयानि भूभृताम् ॥ ७ ॥
पुनर्गृहं स्वर्गसमानतां व्रजेत् प्रवर्धतां बन्धुषु हार्दमच्छलम्।
समादरः स्यादुचितः कुलस्त्रिया विनाशमभ्येतु कलेर्विजृम्भणम् ॥ ८ ॥

न मानभङ्गः पुरुषस्य जातुचिन्न धर्षणं स्यान्महिलाकुलस्य नः ।
न कोऽपि निक्षेप्तुमलं बलाधिकः प्रसह्य संरोषकषायितां दृशम् ॥ ९ ॥
भवन्तु भूयो वृषभा धुरन्धराः प्रमोदमेदस्वि च दोग्धृ धैनुकम् ।
निकामवृष्टिः फलिना कृषिस्तथा समृध्यतात्तत्फलभोगयोग्यता ॥१०॥
न धर्मभीरुत्वमपेतसाहसं विवेकविश्रान्तममर्मीप्सितं भवेत् ।
जनाः पुनर्धर्मविधानकोविदा भजन्तु लोकद्वयसिद्धिहेतुताम् ॥११॥
तपस्विता तिष्ठतु सिद्धिकामुके सुशिष्यवर्गे विनयादिभूषिता ।
यथा विहायानुकृतिं परस्य स प्रवर्त्तयेदुन्नतिनूत्नपद्धतिम् ॥१२॥
स्वयं प्रदुग्धां गुरुमण्डली धियं स्वशिष्यवत्सोत्सुकतामुपागता ।
न बुद्धिपण्या वणिजो भवन्तु ते न चेतरो वृत्तिमिमां कदर्थयेत् ॥१३॥
अधीत्य विद्यामिह शिक्षिता जनाः समस्तबुद्धीन्द्रियकर्मपेशलाः ।
श्ववृत्तिमुत्सृज्य नितान्तगर्हितां स्ववृत्तिमालम्ब्य विहर्त्तुमीशताम् ॥१४॥
परोपकारैकपरायणाः परात्परे निमग्नाश्च भवन्तु लिङ्गिनः ।
न पूपसेयावपयस्यभक्षणात् पिचण्डिला दारधनापहारकाः ॥१५॥
मधु क्षरन्त्यः प्रवहन्तु सिन्धवः प्रजायतां नो मधुमान् वनस्पतिः ।
पुरेव भूयान्मधुमच्च पार्थिवं रजः परानन्दरसज्ञताऽस्तु नः ॥१६॥

(संस्कृतसौरभम्, ई० १६३३)

शुभाशंसा

*

वाच्यवाचकविशेषपेशलो लक्ष्यलक्षकविचारपारगः ।
व्यंग्यबोधनविधुर्निधीयतामब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ १ ॥
श्यामसुन्दरविभूतिभूषितो रामचन्द्ररचितालिमालिकः ।
किं नवीनपदलाञ्छनो भवेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ २ ॥
मातृवाक्प्रणयिधीरनीरवैर्यत्समृद्धिमुपजीव्य दीव्यते ।
प्रत्नूत्ननिजरत्नदः स्फुरेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ३ ॥
मातृमन्दिरकपाटकुञ्चिकापुञ्जरक्षणविशालपेटकः ।
सद्विनेयकुलपुत्रगो लसेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ४ ॥
चञ्चलामपि विवेकमन्थरामिन्दिरामतिशयानमुज्ज्वलम् ।
बुद्धिरत्नमुपढौकयञ्जयेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ५ ॥

(कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, ना० प्र० सभा, सं० १९८५)

मेघदूत

मंद मंद अनुकूल पवन यह तुझको सीधे बहा रहा,
तेरा सगा पपीहा बाएँ पिहक रहा चहचहा रहा।
तो अवश्य प्रियदर्शन ! तेरा नभ में बहुत करेंगी मान,
पाँत बाँधकर उड़ीं बगलियाँ गर्भाधान समय को जान ॥ ९ ॥

दिन गिन-गिनकर धीरज धरती पतिव्रता भावज तेरी,
जीती ही दिखलाई देगी जो न लगी तुझको देरी।
कुसुम-समान हृदय रमणी का जो वियोग में कुम्हलाता,
आशा-रूप-वृंत के कारण गिरते गिरते रुक जाता ॥१०॥

छत्रक उपजाकर धरती को शस्यशालिनी जो करता,
श्रुतिसुख सुन वह तेरा गर्जन जब हंसों का मन भरता।
कमलनाल के मृदुल दलों का संबल तब वे ले-लेकर,
मानसगामी नभ में होंगे हरगिरि तक तेरे सहचर ॥११॥

जिसके ऊपर रघुनायक के वंदनीय चरणों की छाप,
उस प्रियबंधु तुंग गिरिवर से मिलकर बिदा माँग तू आप।
समय समय पर ही तुझको पा जो चिर-विरह-जन्य तत्काल,
उष्ण बाष्पमोचन कर-करके कहता व्यथित हृदय का हाल ॥१२॥

प्रिय पयोद प्रस्थान योग्य पथ बतला दूँ पहले तुझको,
(श्रवण-योग्य संदेश कहूँगा फिर जो कहना है मुझको।)
उस पथ में थकने पर करना गिरिवर-शिखरों पर विश्राम,
और क्षीण होने पर पीना सरिता-सलिल सरस गुणधाम ॥१३॥

'कहीं वायु गिरि-शिखर उड़ाए तो यह नहीं लिए जाता ?'
यों तू चकित मुग्ध सिद्धों की बधुओं से देखा जाता।
पथ में दिङ्नागों की भीषण सूँड़ों का हरते अभिमान,
सरस-निचुलवाले इस थल से उत्तर को करना प्रस्थान ॥१४॥

बाँबी के ऊपर से सम्मुख देख निकलता आता है,
रत्नों के द्युति-मंडल सा यह इंद्रधनुष छवि पाता है।
इससे रुचिर साँवली सूरत वह तेरी मन भाएगी,
मोरपंखधर गोपवेशाकर हरि की याद दिलाएगी ॥१५॥

जलद ! गाँव की बाली भोरी तुझे जान कृषि का आधार,
नेह भरी भोली चितवन से देख करेंगी तेरा प्यार।
नए जुते खेतों से सोंधी माल-भूमि पर घेरा डाल,
चटपट उत्तर को चल देना वहाँ बिताकर थोड़ा काल ॥१६॥
("मेघदूत", भारत-कला-भवन, काशी, सं० १९९२)

मधुमती भूमिका

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक-संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता, इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपरप्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूर्खता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से सह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विक-शील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदार-चित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने पराए का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिये दुःख पाते हैं, क्योंकि "भूमा वै सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति"।

जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपरप्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परंतु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे

केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका को स्पर्श करता है तब समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार उसके लिये स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुंदर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते; वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

अर्थात्—मधुमती भूमिका का साक्षात् करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं—इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिये लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुंदरी कन्या है, यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाशयान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मंदाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएं ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर एक आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर, अमरस्थान में।

इसी दिव्य भूमिका में पहुँचकर क्रांतदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (ऋ० १।६०।६)

योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है, प्रातिभज्ञान[१]-संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः उस भूमिका तक हुआ करती है।

१—Benedetto Croce ने इसी प्रातिभ ज्ञान को Intuitive Knowledge कहा है। इसका वर्णन 'प्रातिभाद्वासर्वम्' ३।३३ तथा 'तारक सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' ३।५४ इन पातंजल सूत्रों पर व्यास के भाष्य और विज्ञानभिक्षु के वार्तिक में देखना चाहिए।

साधक और कवि में अंतर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

बड़े ही गूढ़ अभिप्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्य........द्रुतिकारणं' कह-कर मधुमती के पुत्र माधुर्य को चित्तद्रुति का कारण बतलाया है। चित्त की द्रुति अथवा द्रवीभाव है क्या ? चित्त स्वभावतः कठिन होता है। उसकी कठिनता इसी में है कि वह अपने को किसी भाव से आविष्ट नहीं होने देता, किसी भाव के संचार के लिये उसमें अवकाश नहीं मिलता। जब इस प्रकार की कठिनता चली जाय, जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति (तमतमाहट) मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटा-कर रति आदि भावों के आकार में भासमान आंतरिक आनंद-ज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष के हृदय की आर्द्रता होती है, जो अश्रुप्रवाह या पुलकावली का संचार हो उठता है वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की ही अवस्था है। माधुर्य से इसका संबंध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों में नहीं।

संस्कृत साहित्य में मुझे ऐसे दो उदाहरण मिले हैं जहाँ अपरप्रत्यक्ष की अवस्था में भी रससंचार का वर्णन है। एक तो साक्षात् क्रौंचवध देखने से महर्षि वाल्मीकि के चित्त में लौकिक संकोचक शोक न उत्पन्न होकर उस अलौकिक विकासक शोक का उत्पन्न होना जिसके आवेश में उनका प्रातिभ ज्ञान जाग उठा और उन्होंने—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इस छंदोमयी दैवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण कर डाला। इस वाग्ब्रह्म के प्रबोध का वर्णन कालिदास, भवभूति तथा आनंदवर्धन ने "श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" आदि कहकर ऐसे ढंग से किया है कि वह शोक महर्षि के परप्रत्यक्ष का विषय ही जान पड़ता है। दूसरा सीता-परित्याग के पश्चात् पुनः पंचवटी में स्वयं

गए हुए रामचंद्र में, संगमकालीन दृश्यों का अपरप्रत्यक्ष होने पर भी, लौकिक शोक न होकर उस करुण रस का संचार होना जिसका निर्देश भवभूति ने—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।।

कहकर स्पष्ट ही कर दिया है ।

इन उदाहरणों में भी परप्रत्यक्ष की अवस्था माननी चाहिए। महर्षि वाल्मीकि और भगवान् रामचंद्र दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम सात्विक कहे जा सकते हैं। उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकार से सदा ही मधुमती भूमिका में रमी रहती होगी। अतः उनका शोक आत्म-संबंधी या पर-संबंधी परिच्छिन्न शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्ति-संबंध-शून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप परिणत हो सका।

कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बंधन से बँधा है। वही मेघदूत के पर्वतों को मधुमान् और नदियों को 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' के रूप में देख सकता है।

(वही, भूमिका)

स्वागत भाषण

[नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में हुए अखिल-भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अट्ठाईसवें अधिवेशन (सं० १९९६) के कविसम्मेलन में सम्मिलित कविवरों की सभाजना]

हे भारती के संभावित सुपुत्ररत्न
हे मूक हृदयों के वावदूक प्रतिनिधि
हे विश्वस्रष्टा के समानधर्मा कविगण !

मैं आपलोगों का समस्त आतिथेयवृंद की ओर से सबहुमान स्वागत करता हूँ। वंदना करता हूँ। सिर आँखों पर लेता हूँ।

सहस्रों वर्ष पूर्व इसी भारतवर्ष के क्रांतदर्शी—ज्ञानसाधनों की पहुँच के बाहर की प्रत्येक वस्तु का प्रातिभ साक्षात्कार करनेवाले—कवियों ने जिन ज्योतिर्मय भावों के प्रथम दर्शन किए थे, उन्हीं भावों की अमर अंतरात्मा किसी न किसी भूमिका में किसी न किसी कलेवर में आज तक अपनी झलक से हमारी अंतर्दृष्टि की पलक खोलकर अपनी आनंदरूपता का आभास इस प्रकार देती चली आ रही है जिससे हमारा जीवनरस शुष्क और पर्युपित न होकर अब तक आर्द्र और प्रत्यग्र

बना है। यह बड़े सौभाग्य की बात है। समय समय पर उस अंतरात्मा का चोला अवश्य बदलता रहा है पर उसकी अच्छेद्यता और अदाह्यता, अशोष्यता और अचल सनातनता सदा वर्तमान रही है और जब तक भारतीय परिसर को गंगा यमुना की पावन धारा आप्लावित करती रहेगी, वह इसी प्रकार वर्तमान रहेगी।

भारत की भारती कभी वशिष्ठ और विश्वामित्र के कंठ से फूटकर सरस्वती में अवगाहन करती हुई विश्वकल्याण का पाठ पढ़ाती, कभी वाल्मीकि और व्यास की रसना पर बैठकर भव्य विभूतियों की भावना जगाती, कभी कालिदास और भवभूति की वाचा को सांस्कृतिक सुधाबिंदुओं में सींचकर उज्ज्वल सौंदर्य की स्फूर्ति देती हुई भावुकों के हृदय आप्यायित करती, कभी सूर और तुलसी की साधना से सिद्ध-रसायन बनकर निराश तथा संतप्त हृदयों को आश्वासित और शीतल करती अपनी अविनश्वर सत्ता का सादृश्य देती रही है।

व्रजरज में लिपटी उत्तरमध्यकालीन कवियों की वाणी उस अखंड परंपरा से विच्युत होती हुई नितांत संकीर्ण और आविल होकर आत्मविस्मृति के गर्भ में गिर गई—ऐसा समझना भारतीय भावनाओं के आविर्भाव-तिरोभाव को न समझना है। भारत की व्यापक दृष्टि कभी अनेकों में एक को देखती और कभी एक में अनेकों की झाँकी लेती—

'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'।

उन कवियों की श्यामरंग होकर श्यामरंग में समाई दृष्टि को यदि पिछली दृष्टि कहें तो क्या हानि? हाँ, उनको तो कवि कहना भी ठीक नहीं, जो उस त्रिलोकसुंदर की ओट में विलासिता का नग्न नृत्य दिखाकर भारतीय भावना को पंकिल करते हैं।

आधुनिक कविगण, जिनकी रचना छायावाद, रहस्यवाद या अव्यक्तवाद के के नाम से निर्दिष्ट होती है, ऐसे ही हैं जो अनेकों में एक की भावना रखते हैं। उन्हीं को 'लुक छिप कर चलनेवाले लाज भरे सौंदर्य' की सर्वत्र झलक मिलती है, उन्हीं को 'करुणार्द्र कथा चातक की चकित पुकारों' में सुन पड़ती है और वे ही सभी से 'मौन निमंत्रण' पाते और 'अरुण कोरों में उषा विलास' देखते हैं। कभी वे 'नीरभरी दुख की बदली' से तादात्म्य स्थापित करते हैं तो कभी 'बादल में आए जीवनधन' से मिल बैठते हैं।

कुछ कवि ऐसे हैं जो सच्चिदानंद की व्यक्त सत्ता को व्यक्त पदावली में, कुछ व्यक्त सत्ता को अव्यक्त पदावली में, कुछ अव्यक्त सत्ता को व्यक्त पदावली में और कुछ अव्यक्त सत्ता का अव्यक्त पदावली में व्यक्त करते हैं।

मैं इनमें से आदिम दो को व्यक्तवादी और अंतिम दो को अव्यक्तवादी या रहस्यवादी समझता हूँ। इनके कला-सौष्ठव का तारतम्य अपने-अपने वर्ग की क्रम-संख्या के अनुसार समझना चाहिए।

उस परम कवि की अघटित-घटना-पटीयसी प्रभुता का यह प्रेयस्कर प्रभाव है जो आज प्रायः सभी प्रकार के कविवरेण्य इस सम्मेलन की शोभा बढ़ाकर हमें अपने वाक्सुधा-सागर में डुबकी लगाने और अपने कर्म के अनुसार मुक्ताफल या जलशुक्ति पाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं।

कहा जाता है कि आजकल कविता का स्रोत व्यथित जनता की व्यथा-कथा से विमुख होकर ऐसे वितथ पथ पर चल रहा है जो न दीन से संबद्ध है न दुनिया से। हृत्तंत्री की तान पर नीरव गान गाने से न किसी के प्रति किसी की अनुकंपा जागती है और न कोई किसी का उपकार करने पर ही उतारू होता है। यह अभियोग आपाततः सत्य प्रतीत होने पर भी वस्तुतः कवित्व की मर्यादा के प्रतिकूल है। कवि ईश्वर के समान सर्वान्तर्यामी होकर भी तटस्थ रहता है। प्रज्ञा-प्रासाद पर आरूढ़ होकर वह भूमिष्ठ जीवों के प्रति यथापात्र मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की प्रेरणा करता है। उसकी करुणा का पात्र वर्गविशेष नहीं, किंतु दुःख मात्र है, चाहे वह दुःख सार्वभौम सम्राट् का हो चाहे किसी अकिंचन बुभुक्षित का। ऐसा न कर यदि कवि विषम दृष्टि धारण करे तो उसका ईश्वर-प्रतिनिधित्व चला जाय।

इसके अतिरिक्त आजकल ऐसे भी कवि या पद्यकार बहुत से हो गए हैं जो वर्ग-विशेष या जाति-विशेष का पक्षपात करते हैं। अतः इस परिमित परिचर्या का भार उन्हीं के हाथ में छोड़ दिया जाय तो बहुत अच्छा।

अंत में मैं पुनः आपलोगों का स्वागत करता हूँ और इस बात पर अपनी असमर्थता प्रकट करते आंतरिक वेदना का अनुभव करता हूँ कि मैं राजा न हुआ, नहीं तो आपको पट्टबंध से अलंकृत करके ब्रह्मरथ पर बैठाता और आप उसमें जुतता।

आप महानुभावों का विधेय

केशवप्रसाद मिश्र

स्वागताध्यक्ष, कवि-सम्मेलन

१

काले पाख की काली रात को कारा की कालकोठरी में जो जन्म ले उसे कृष्ण न कहें तो क्या शुक्ल कहें? भले ही वह अपने कर्मों के मान से आगे चलकर चंद्र बन जाय! "गौर कृष्ण" होकर पुजे!

वाह रे आप की नटखटी! आपने तो दुनिया सिर पर उठा ली है! बित्ता भर के बित्तन सवा हाथ की दाढ़ी! नन्हें से तो आप हैं पर सबको परेशान कर रखा है। किसी की मटकी फोड़ी तो किसी का कूँड़ा गिराया! किसी की नैनी ले भागे तो किसी की छाछ फैला दी! कभी आप चुपके से बछड़ा छोड़ देते हैं तो कभी धौरी की टाँगों में सिर डालकर बेखटके ऐन चूसने लगते हैं। न डरें किसी डायन से, न सहमें किसी दानवा से! अच्छा है! आज खूब सूझेगी। क्या करे माँ बेचारी! तंग आकर उसने कमर में रस्सी बाँधी है! दामोदर जी नमस्कार!

धन्य गोपाल धन्य! भारत के प्राण गोधन की आप न रक्षा करें तो कौन करे? बन में गाएँ स्वच्छंदता से चर रही हैं। कोई रोक-टोक नहीं! चाहे झाड़-झंखाड़ के झुरमुट में छुप जायँ चाहे चौड़े धाड़े हरी दूब ही टूँगें। उनका मन! उनकी मनमानी! किसी की ताब नहीं कि उनका बाल बाँका करे। साँझ हुई। 'गोसंघ' लेकर घर लौटना है। ग्वाले गाएँ समेट रहे हैं। सब आ गईं? और तो आईं पर लाली का पता नहीं! अँधेरा छा रहा है। जंगल में श्वापदों का राज्य होगा! किसका साहस है कि लाली को ढूँढ़ने जाय? गोविंद जायँगे गोविंद। धन्य गोविंद!

वाह, आपकी आँखों में कैसा नूर है! कैसी दिव्यज्योति है! कैसा जादू है! एक बार की चितवन चित्त चुरा लेती है! माधुर्य और तेज का, सतर्कता और विस्रंभ का, उल्लास और गांभीर्य का, विलोलता और स्थैर्य का, कातरता और पारुष्य का ऐसा योग, ऐसा सहविहार कहाँ देखने में आता है? पुंडरीकाक्ष के माने भी तो यही हैं।

शरत्काल की धवल राका खिली है, समस्त सृष्टि में *उन्मदिष्णुता* जाग उठी है। हिमांशु के निरावरण करों का स्पर्श पाकर प्रकृति पुलकित हो रही है। रूपवती गोपिकाओं का उद्दाम यौवन केलिलालसा से निर्मर्याद हो रहा है। उस वंशीधर त्रिलोकसुंदर के संग ही उसे वे चरितार्थ करना चाहती हैं। उधर मदन भी मोहन के मोहन का ऐसा सुअवसर हाथ से निकल जाने देना नहीं चाहता। शीलनिधान गोपियों का यह प्रणयानुरोध स्वीकार करते हैं। रास रचा जाता है। नटवर खुल

खेलने के लिये तैयार खड़े हैं। गलबहियाँ पड़ जाती हैं। पैर थिरकने लगते हैं। लालसा तृप्त होती है। रात बीत जाती है। हे अच्युत! आप गोपीमोहन तो हैं ही, मदनमोहन भी हैं।

जन, जनन-मरण का खिलौना जन, कर क्या सकता है? साधारण से साधारण संकट ही में उसके हाथ-पैर फूल जाते हैं। इस मांसपुद्गल में कैसा सत्त्व और क्या सार! इसकी सब कामनाएँ, सारे मनोरथ, समस्त उत्साह और संपूर्ण साहस जहाँ के तहाँ रह जायं यदि आप इसके अर्दन[1] न हों; समय समय पर इसे हाँका न करें। वस्तुतः जन की बागडोर जनार्दन के हाथ है।

गोपेश्वर! आपने सदा गाएँ ही दुहीं। धौरी, काली, भूरी, लाली, सभी का स्वच्छ कुमुदवर्ण क्षीर एक रूप! एक रस! एक सत्त्व! जब चाहा जिसको पिलाया। आज या तो गाएँ ठाँठ हो गई हैं या दूध का रंग बदल गया है। अंधी जनता आश्चर्य करती समझती है कि मेरी काली गाय सफेद दूध कहाँ से देगी? हे गोपाल-नंदन! अब आप कब सब गाएँ दुहकर समझदार लोगों को एक सा अमृत दूध पिलाएँगे।

दुनिया दुरंगी है। समस्त विश्व द्वंद्व की प्रचंड थपेड़ से व्यथित हो रहा है। कोई ऐसा मार्ग नहीं जिसपर सब-के-सब सुख-शांति से चलकर मनुष्यता देवी को विकसित होने का पूरा-पूरा अवकाश दे सकें। किसी से कुछ जोग-जुगुत पूछना चाहिए। कौन है जो इन प्रबल विरोधियों के उच्छृंखल वेगों का योग कराकर एक ऐसा समंजस ऊर्ज उत्पन्न करे जिससे विश्वजनीन कल्याण संपन्न हो? यों तो नेता सभी हैं, पर कर्मकुशल *योगेश्वर* कृष्ण के सिवा इस योग की साधना कोई नहीं कर सकता।

धर्मराज की राजसूय-सभा बैठी है। बड़े बड़े पुरुष, सुपुरुष, अतिपुरुष और पुरुषाभास भी विराजमान हैं। प्रथमपूज्यता का प्रश्न उपस्थित है। निर्णय विवाद-ग्रस्त हो रहा है। आजन्म ब्रह्मचारी सकल-शास्त्र-निष्णात परम आप्त कुरुप्रवीर भीष्म पितामह निर्णय देते हैं—"चक्रपाणि कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं, इन्हीं की प्रथम पूजा होनी चाहिए।"

'केशव कहि न जाय का कहिए।'

("गीताधर्म", अधिक भाद्रपद १९९४)

---

[1] —अं० Urge.

उच्चारण

यदि मनुष्य में विवक्षित शब्दों के उच्चारण की शक्ति न होती तो वह निरा पशु ही रहता। न उसका ज्ञान ही बढ़ता और न उसकी मनुष्यता ही किसी काम की होती। न कोई भाषा रहती न कोई साहित्य। न छंदों का अवतार होता न गानविद्या की सृष्टि। सभी की "अंतर्गुडगुडायते बहिर्न निःसरति" वाली दशा हो जाती। संकेतों और इंगितों से, अक्षिनिकोच अथवा पाणिविहार[1] से, कुछ साधारण प्राकृत भाव भले ही व्यक्त कर लिए जाते, पर प्रतिभा में प्रतिबिंबित, हृदय में जागरित असाधारण भाव जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते। विधाता की सारी कारीगरी मिट्टी हो जाती। अतः अभिलपनशक्ति को ईश्वर-दत्त एक वर समझना चाहिए।

सबका उच्चारण एक सा नहीं होता। बोली भी एक सी नहीं होती। उसके देशाश्रित, जात्याश्रित भेद तो होते ही हैं, ग्रामाश्रित और व्यक्त्याश्रित भेद भी होते हैं। सब अवधवासियों की बोली अवधी है सही, पर वहाँ के ठाकुरों की बोली में जो ठसक होगी उसका उनके परिजनों की बोली में सर्वथा अभाव पाया जायगा। किसी के आने पर अयोध्या प्रांत का निवासी जहाँ "के हैं?" पूछेगा, वहाँ हमारे बैसवाड़ी भाई गरजकर बोलेंगे—"को आय?" हमारे देखते देखते 'वाजपेयी जी' को मजूरों ने 'बाँस बेइल महराज' बना डाला। संस्कृत *नक्क* बहुत दिनों तक तो *नोखा* था और 'नोखे की नाइन बाँस की नहरन' में अब तक दिखाई पड़ जाता है; पर आजकल उसने 'अ' की अगाड़ी लगाकर *अनोखा* रूप रचा है। भोजपुरी के '*एहिजाँ चहुँपलीं*' और पंजाबी के '*थ्वाडा मतबल की?*' पर चाहे कोई छिछोड़ हँसोड़ खीसें काढ़े, किंतु *हिंस* ने हजारों वर्ष से *सिंह* बनकर जो अपनी करतूत छिपाने की चेष्टा की है उसे कौन रोक सकता है! जिसे कानों से सुनने और आँखों से देखने की प्रार्थना हम देवों से किया करते थे[2], उस *भद्र* के दो बेटे हुए, एक *भला* और दूसरा *भद्दा*। बेचारे बुद्ध के सत्तू को फत्तू कहने पर सब हँसते हैं; पर

१—अंतरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यंते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। महाभाष्य—१।१।१। अर्थात् आँख मटकाने और हाथ हिलाने से, बिना शब्दप्रयोग के ही, बहुत से भाव प्रकट किए जा सकते हैं।

२—भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः...यजुर्वेद २५।२१

सारा जापान फ़िफ़्टी (Fifty) को सिफ़्टी कहता है तो कोई नहीं हँसता। *उपाध्याय* घिसते घिसते *झा* रह गए; पर उसी ऋग्वेद के राजा राजा ही बने हैं। अस्तु।

मनुष्यों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों में भी बोली के भेदक कारण अपना काम करते हैं। पहाड़ी मैना सुन-सुनकर टपाटप हमारी बोली बोलने लगती है; पर यहाँ की सिरोही मौत के दिन तक सिवा टें टें करने के और कुछ जानती ही नहीं। हिमालय के कौवों की बोली इतनी टर्री नहीं होती जितनी यहाँवालों की। यहाँ का देशी लाल लाहौरी लाल की शहनाई का सुर भर सकता है, पर स्वयं नहीं बजा सकता। और तो और, एक ही कंपनी के बनाए हार्मोनियमों और एक ही कारीगर के साजे सितारों की बोल भी एक सी नहीं होती।

बोली ही नहीं, सबके पढ़ने का ढंग भी निराला होता है। इसके उदाहरणों की आवश्यकता तो नहीं थी; पर कुतूहलवश आज से हजार वर्ष पहले किस प्रांत के वास्तव्य किस ढंग से पढ़ा करते थे इसका उल्लेख राजशेखर के शब्दों मे किया जाता है—

बनारस से पूर्व के मगध आदि संस्कृत तो अच्छा पढ़ लेते हैं; पर प्राकृत उनके मुँह से नहीं निकलती, प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुंठित सी हो जाती है। कहते हैं, सरस्वती एक दिन ब्रह्मदेव से फरियाद करने लगीं—ब्रह्मन्, मैं आपको इत्तला देती हूँ, आप मेरा इस्तीफा ले लीजिए। या तो बंगाली गाथा (प्राकृत कविता) पढ़ना छोड़ दें या कोई दूसरी सरस्वती बनाई जाय ?[3] बंगाली ब्राह्मणों का पढ़ना न अतिस्पष्ट होता है न श्लिष्ट। न उसे रूक्ष कह सकते हैं न अतिकोमल। न गंभीर ही न अतितीव्र ही। न गुड़ मीठा न गुड़ तीता। चाहे कोई रस, रीति वा गुण हो कर्णाटक जब पढ़ेंगे तब गर्व से अंत में टंकारा अवश्य देंगे। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो, द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के शत्रु लाट (गुजराती) प्राकृत बड़ी लटक से पढ़ते हैं क्योंकि ललित आलाप करते करते उनकी जिह्वा पर सौंदर्य की मुहर सी लगी होनी है। सुराष्ट्र (सोरठ— गुजरात काठियावाड़) और त्रवण (पश्चिमी राजपुताना) आदि के लोग बहुत ही अच्छी तरह संस्कृत में भी अपभ्रंश का पुट दे देकर पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से

३— × × × × × × × । ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया। गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥ × × × × ....—काव्यमीमांसा।

काश्मीरी सुकवि तो होते हैं, पर उनका पढ़ना कानों में गुर्च की पिचकारी देना है। उत्तरापथ के कवि, चाहे कैसे ही सुसंस्कृत क्यों न हों, जब पढ़ेंगे तब नाकी देकर। जिसमें प्रत्येक ध्वनि ठिकाने की होती है, वर्ण स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं, यतियों का विभाग रहता है, वह पांचाल (रुहेलखंड) के कवियों का गुणनिधि तथा सुंदर पाठ कानों में मानो शहद बरसाता है। उसका कहना ही क्या! लकारों की लड़ी और रेफों की फर्राहट के साथ ऐंठ-ऐंठकर बोलना शोहदों का अच्छा लगता है, भव्य काव्यज्ञों का नहीं।[४]

इस प्रकार दो बातें विदित होती हैं। एक यह कि कंठ तालु आदि उच्चारण-स्थानों की समानता होते हुए भी सबके उच्चारण अथवा पाठक्रम एक से नहीं होते और दूसरी यह कि भाषा में परिवर्त्तन उत्पन्न करनेवाला सबसे बड़ा कारण यही अशक्ति अथवा प्रमाद-जन्य उच्चारण है।

इस देश में उच्चारण को व्यवस्थित रखने का उद्योग बहुत दिनों से होता आया है। वेद के छः अंगों में शिक्षा प्रधान अंग है। पाणिनि आदि मुनियों ने उच्चारण विषयक अपने अपने अनुभवों की पृथक् पृथक् शिक्षा दी है। शिक्षा वेद की नाक है।[५] उच्चारण ठीक नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि वेद की नाक कट गई।

एक दिन पाणिनि भगवान् अपने आश्रम में विराजमान थे। उनके आस-पास सभी जीव-जंतु सहज वैर भूलकर सुख से विचरते थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि एक शेरनी पर पड़ी। वह अपनी दाढ़ों में पकड़कर अपना बच्चा ले जा रही थी। बच्चा खूब प्रसन्न था। न वह गिरता था और न उसे दाँत ही चुभते थे। ऋषि निरीक्षण कर रहे थे, बोल उठे—वाह! क्या सफाई से बच्चे को उठाया है! क्या ही अच्छा हो यदि उच्चारण करनेवाले भी इसी शेरनी की तरह वर्णों को न तो काट खायँ और न मुँह से बिखर जाने दें।[६]

४—ललल्लकारया जिह्मं जर्जरस्फाररेफया। गिरा भुजंगाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु ॥
—काव्यमीमांसा, ७

५—शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य × × × ×। पा० शि०, ४२

६—व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्। भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत् ॥ पाणिनिशिक्षा, २५

अनुनासिक या गुंआ को संस्कृत में रंग भी कहते हैं। स्वर के उच्चारण में रंगत लाने के लिये इसका उपयोग होता है। मुनि ने सूरत की किसी महिला को अपने ढंग से 'तक्रँ' कहते सुना था, अतः अपनी शिक्षा में यह भी लिख गए कि रंग बोलना तो बस सौराष्ट्रिका नारी से सीखना चाहिए।[7]

आजकल जिस प्रकार अँगरेजी के उच्चारण और स्वर-संचार (Accentuation) पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वेदपाठ में उससे किसी प्रकार कम ध्यान नहीं दिया जाता था। किसी प्रकार का अपपाठ उपेक्षणीय नहीं माना जाता था। हजारों वर्ष पहले एक बड़े ब्रह्मज्ञानी थे। धर्म तो मानो उन्हें प्रत्यक्ष था। वे परा और अपरा दोनों विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। कोई ऐसा वेदितव्य विषय नहीं जो उन्हें विदित न हो, कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसकी उपलब्धि उन्हें न हुई हो। किंतु एक बात थी। वे यद्वा नः तद्वा नः के स्थान पर यर्वाणः तर्वाणः बोला करते थे। इस तकिया कलाम के वे ऐसे आदी थे कि लोगों ने उनका नाम यर्वाणः तर्वाणः रख छोड़ा था। बेचारे इसके लिये बदनाम थे।[8] हमारे क्वींस कालेज के परलोकगत प्रोफेसर हरिचरण नर्मा (Prof. H. C. Norman) calculation को विचित्र ढंग से 'कालकुलेशन' कहा करते थे। अतः विद्यार्थिमंडली में वे भी उसी नाम से प्रख्यात थे। उच्चारण में एक अशुद्धि करनेवाले को 'एकान्यिक', दो अशुद्धिवाले को द्व्यन्यिक एवं एकादशान्यिक द्वादशान्यिक आदि कहते थे। पाणिनि ने इस प्रयोग (मुहावरे) के लिये दो सूत्र पृथक् ही रचे हैं।[9] अँगरेजी में स्वर-संचार की भूल केवल वक्ता को हीन और कवि को निष्क्रिय बनाती है, पर प्राचीन काल में यहाँ तो वह प्राणों पर आ पड़ती थी। बेचारा इंद्रशत्रु वृत्र पुरोहित जी की की इसी भूल से निर्मूल हो गया था। हमारी बोली में भी स्वरसंचार का महत्त्व कुछ कम नहीं है। 'चल' कहने पर हमारा मित्र चलने लगता है, पर 'चल' कहते ही उसकी त्योरी बदल जाती है। आज से प्रायः बाईस सौ वर्ष पहले, पतंजलि देव के समय, यदि कोई विद्यार्थी उदात्त का अनुदात्त कर बैठता तो चपत खाता

७—यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः......॥ वही २६

८—एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।............—महाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक।

९—कर्माध्ययने वृत्तम्। अष्टाध्या० ४।४।६३। और बह्वच्पूर्वपदाट्ठच्। वही, ४।४।६४

था।[१०] हाँ, प्रसंगात् एक बात याद आ गई। काश्मीर के राजा जयापीड के महामंत्री दामोदर गुप्त (सं० ८११-८४२ वि०) ने काशी के तत्कालीन वेदाध्यापकों की एक मीठी चुटकी ली है। उन्होंने लिखा है कि काशी में नूपुरों की ऐसी झंकार होती है कि वेदाध्यापक शिष्यों की अशुद्धियाँ सुन नहीं पाते।[११] चलिए बेचारे विद्यार्थी चपत खाने से बचे !

उच्चारण में अशक्ति और प्रमाद के कारण ही परम पावन वैदिक भाषा बिगड़ते बिगड़ते आज क्या की क्या हो गई ! भर्तृहरि ने निर्गुण वक्ताओं को कोसते हुए देववाणी की इस दुर्दशा पर गरम आँसू बहाए हैं।[१२] शल्क का छिलका या छिकला, वल्मीक का बाँबी या बिमौट, मनीषा का मंशा, विद्युत् का बैजा, अविधवात्व का अहिवात, तोक का खोका (बं०), दुर्या (वै०) का डेरा, सपर्य (वै० पूजा करना) का सपरना (बुंदेल० नहाना), पराके (वै० दूर) का फरके (पूर्वी० अलग), प्रष्ठ का बिढ़िया और संज्ञा का सान आदि किसने किया ? वैदिक भाषा अति प्राचीन है। बहुत से परिवर्तन भुगत चुकी है। उसे छोड़िए। अभी कल की आई अँगरेजी इस प्रकार बदल चली है कि बड़े बड़े विद्वान् मूलान्वेषण में गोते खा जाते हैं। 'खिचड़ी बरताना' लेकर भागे, सब बोलते हैं; पर यह नहीं जानते कि यह खिचड़ी बरताना Livery Baton का बेटा है।

यदि उच्चारण की भ्रष्टता रोकने के उपाय न होते रहें तो कोई भाषा अपनी पूर्ण आयु न भोग सके। बीच ही में लोग उसका अंगभंग कर डालें। जिस भाषा में असवर्ण-संयोग अधिक होगा उसके विकृत होने की अधिक आशंका रहेगी और उसकी विकृति रोकने का प्रयत्न भी अधिक करना पड़ेगा। किसी वर्ण के उच्चारण करने में कितना प्रयत्न करना पड़ता है इसका बोध निरंतर अभ्यास के आवरण में छिपा रहता है। पाणिनि मुनि का मत है कि वर्णोच्चारण के पूर्व अंतःकरण, संस्कार रूप से अपने में वर्तमान अर्थों में से कुछ को अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा

१०—एवं हि दृश्यते लोके—य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति। वृद्धिरादैच् १।१।१ का भाष्य।

११—यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ्नभोभागे।
शिष्याणामाचार्यैर्नावद्यं वार्यते पठताम्॥ कुट्टनीमत, ८

१२—पारम्पर्यादपभ्रंशा निर्गुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागताः × × × ×—वाक्यपदीय, १।१५५
दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः × × × × × वही, १५६

किसी प्रासंगिक विषय के अनुकूल बनाकर उन्हें अभिव्यक्त करने की इच्छा मन में उत्पन्न करता है। उस इच्छा को लेकर मन शरीर की अग्नि को छेड़ता है। कायाग्नि भभककर वायु को प्रेरित करती है। ताप से स्फीत होकर वायु मूर्धा की ओर बढ़ती और उससे टकराकर लौटने के समय मुख के कंठ तालु जिह्वामूल आदि स्थानों पर आघात करती है। तब कहीं वर्ण मुँह से बाहर आते हैं।[13] यदि कहीं वे वर्ण भिन्न भिन्न स्थानों से उच्चार्य होने पर संयुक्त हुए तो और आफत है। ऐतरेयारण्यक में वाणी और प्राण का बड़ा घनिष्ठ संबंध बतलाया गया है। लिखा है—अध्ययन तथा भाषण के समय प्राण वाणी में रहता है। वाणी उस समय प्राण को चाटती रहती है। चुप रहने और सोने के समय वाणी प्राण में लीन रहती है। प्राण उस समय वाणी को चाटता रहता है।[14] भला सोचिए तो ऐसे क्लेशसाध्य काम में कौन यथाशक्य सौकर्य न चाहेगा। इसी लिये तो हरिश्चंद्र ने लिखा है—"सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो, पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।"

इस उच्चारण-सौकर्य, मुखसुख अथवा Euphony के आधार पर ही संधि-नियमों की सृष्टि हुई है। भाष्यकार पतंजलि को मुख-सुख का बड़ा ख्याल रहता है। जब किसी वर्ण की सार्थकता प्रकारांतर से नहीं दिखलाते तो यही कह दिया करते हैं कि अमुक वर्ण मुख-सुख के लिये है। मुख-सुख ही के लिये प्रसिद्ध निषेधार्थक In, pure के पहले Im हो जाता है और Cup + board कबर्ड उच्चारित होता है। अँगरेजी व्याकरण में चाहे इसके लिये नियम न हों, पर प्रधानतः वैज्ञानिक तुरी (करघे) में बुने गए हमारे पाणिनि बाबा के सूत्र यहाँ भी आ बँधेंगे।[15]

१३—आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ पा० शि० ६

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते × × ×॥ वही, ९। एवं नागेशभट्टकृत उसकी व्याख्या (शब्देन्दुशेखर, संज्ञा प्रकरण)।

१४—तद् यत्रैतदधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेलिह। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग् भवति। प्राणस्तदा वाचं रेलिह। ऐ० आ० ३।१।६।१४

१५—नश्चापदान्तस्य झलि ८।४।२४; अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८; और झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

स्वर और व्यंजन के उच्चारण में कितने और कैसे दोष होते हैं उनका विवेचन प्रातिशाख्यों में भली भाँति किया गया है। कुछ स्वर-दोषों का उल्लेख पतंजलि देव ने अपने महाभाष्य के प्रथम पस्पशाह्निक में भी किया है। जैसे—

संवृत, कल (उचित से अधिक मृदु), ध्मात (अधिक श्वास लेने के कारण ह्रस्व भी दीर्घवत् लक्ष्यमाण), एणीकृत (संदिग्ध, जैसे 'ओ है अथवा औ'), अंबूकृत (व्यक्त होने पर भी ऐसा जान पड़े मानो मुँह में ही है), अर्धक (दीर्घ ह्रस्ववत्), ग्रस्त (जिह्वामूल में ही अवरुद्ध), निरस्त (निष्ठुर), प्रगीत (गाया हुआ सा), उपगीत (गाए हुए-से समीपवर्ती वर्ण से अभिभूत), क्ष्विण्ण (काँपता-सा), रोमश (गंभीर), अविलंबित (वर्णांतर मिश्रित), निर्हत (रूक्ष), संदष्ट (बढ़ाया सा), विकीर्ण (वर्णांतर पर फैला हुआ सा)। शौनक ने अपने ऋक् प्रातिशाख्य में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, गुण आदि का वर्णन करके उक्त ग्रंथ के चतुर्दश पटल में स्वर और व्यंजन दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। उनमें से प्रत्येक दोष का यहाँ निर्देश कर इस लेख को अधिक एकदेशी बनाना मुझे अभीष्ट नहीं। अतः कुछ ही का उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त कर देने का विचार है। प्रायः लोग उत्स को उस्त, स्नान को अस्नान, ऋषि को रुषि जैसा, ऐयेः और वैयश्वस्य को अय्येः, वय्यश्वस्य (जैसे 'है' के हिमायती उर्दूवाले वैर को वयर और चौर को चवर), शुनःशेप को शुनःश्येप (जैसे अपढ़ कभी कभी निंदा को निंद्या), ज्येष्ठ को जेष्ठ, दीर्घायु को दीरिघायु, स्वस्तये को स्वस्तए, भुवना को भुअना, सिंह को सिंघ बोला करते हैं। शौनक के मत में ये सब महादोष हैं अतएव वर्जनीय हैं।

इस प्रकार शुद्ध उच्चारण की उपादेयता और अशुद्ध उच्चारण की हेयता का निदर्शन हो चुका। जिस प्रकार लेख में अक्षरों की सुंदरता वाचक पर तत्काल अपना प्रभाव डालती है उसी प्रकार भाषण में उच्चारण की शुद्धता श्रोता को अनुकूल बना लेती है। अतः चाहे किसी भाषा का हो, उच्चारण यथाशक्य शुद्ध होना चाहिए।

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनंतमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥—(महाभाष्य)

(कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, ना० प्र० सभा, सं० १९८५)

क्या संस्कृत नाते में ग्रीक और लैटिन की बहिन है ?

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि कुछ प्राचीन भाषाओं में समानता देखकर उनका पारिवारिक संबंध स्थिर किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इन भाषाओं के सामान्य लक्षणों के आधार पर इनकी जननी एक भाषा की कल्पना की है जिसका नाम हिंद-यूरोपीय ऊर्म्प्राख (भारोपीय मूल भाषा) रख लिया है। इस आदिम भाषा के बोलनेवाले आर्य (या आधुनिक कल्पना के अनुसार 'विरोस्'=वीर) पहले कहाँ रहते थे, इसकी भी लगे हाथ कल्पना कर डाली है। पर यह पिछली कल्पना अभी शंका के पंक से निर्लिप्त नहीं हो सकी है और इसके विषय में "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" है।

ठेठ पश्चिम यूरोप से पूर्व भारत के असम प्रदेश तक फैले इस परिवार में जो कुछ वाङ्मय उपलब्ध है उसमें हमारा ऋग्वेद निर्विवाद प्रचीनतम माना जाता है। इस परिवार की अन्य किसी भाषा में कोई ऐसा ग्रंथ प्राप्त नहीं जो प्राचीनता और उच्चारण-शुद्धि में ऋग्वेद की बराबरी कर सके। वंदना कीजिए उन वेदपाठी ब्राह्मणों की, जिन्होंने अपने ही देशवासियों से उत्तरोत्तर उपेक्षित होते रहने पर भी वेदों के बिंदु-विसर्ग तक की रक्षा कर रक्खी है। अभी उस दिन एक प्रतिष्ठित सहाध्यापक मित्र के घर पर ऋग्वेद का आश्चर्यमय यथातथता के साथ पाठ सुना था। बहुत से मित्र पोथी खोले बैठे थे। उनमें से प्रत्येक कान खोलकर सुनता था और इस ताक में था कि कहीं न कहीं कुछ अंतर पकड़ में आए, पर वेदपाठियों की वाणी में एक लहजे का फर्क भी सुनने में न आया। जिस प्रकार पूर्वज आर्य सहस्रों वर्ष पहले पढ़ा करते थे वही पाठपरंपरा आज भी ज्यों-की-त्यों अखंड जीवित है। इस परंपरा की अक्षुण्णता का प्रमाण पतंजलि से लीजिए जैसा उन्होंने आज से बाईस सै वर्ष पहले स्वतः देखा था—

एवं हि दृश्यते लोके। य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति—अन्यत्त्वं करोषीति।

[व्यवहार में यों दिखाई पड़ता है। जो उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त कर बैठता है, वेद की खंडिका (एक अंश) का अध्यापक उसे चपेटता है—हैं, तू अन्यथा कर रहा है !]

इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से आज तक सांगोपांग सुरक्षित वैदिक भाषा के रहते कुछ जर्मन वैयाकरणों ने पूर्वोक्त आदिम मातृभाषा की कल्पना कर

डाली और उसे यूरोप की प्राचीन भाषाओं के साथ साथ हमारे आर्यावर्त की संस्कृत की भी जननी ठहरा दिया। यह कल्पित भाषा भले ही ग्रीक लैटिन आदि की जननी मानी जाय, मेरा कोई विरोध नहीं, पर इसका यह दावा कि वैदिक संस्कृत भी मेरी बच्ची है, मुझे बिलकुल झूठा मालूम पड़ता है। इस लेख में इसी का विचार किया जायगा।

इस कल्पना के हिमायती पाश्चात्य और उनके अनुयायी हमारे देशी विद्वान् यह मानते हैं कि 'आदिम मातृभाषा के स्वर वर्ण, विशेषकर संध्यक्षर तो ग्रीक को रिक्थक्रम में मिले, पर व्यंजनों की गठरी संस्कृत के ही हाथ लगी।'

इन कल्पकों के अनुसार मातृभाषा के समानाक्षर (अखंड स्वर) निम्नलिखित थे—

ʌ, a; ɛ, e; ɔ, o; ə; ɪ, i; ʊ, u.

[अ, आ; ए, ए; ओ ओ; अ; इ, ई; उ, ऊ]

अब इन स्वरों में से पहले ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' को लीजिए और इस बात की परीक्षा कीजिए कि संस्कृत में इनकी क्या स्थिति है। क्योंकि हमारी परंपराप्राप्त देवनागरी वर्णमाला में इन ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये कोई वर्ण नहीं मिलते, इससे प्रतीत होता है ये ध्वनियाँ संस्कृत के लौकिक और वैदिक दोनों रूपों में से किसी में भी वर्तमान न थीं। पतंजलिकृत महाभाष्य की निम्नलिखित पंक्ति इस विषय से विशेष संबंध रखती है -

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—"सुजाते ए अश्वसूनृते" (सा० वे० १।५ १, ४, ३), "अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्" (१।६,१,२,३), "शुक्रं ते ए अन्यद् यजतं ते ए अन्यद् इति (१।१, २, ३, ३); पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्, नैवहि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारोऽस्ति।

[अजी देखिए तो सात्यमुग्रि और राणायन की शाखाओं के सामवेदी ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' पढ़ा करते हैं—"सुजाते ए अश्व सूनृते" इत्यादि। ठीक, पर यह तो उनकी अपनी शाखाओं की निजी विशेषता है। क्योंकि न तो लौकिक व्यवहार में और न किसी दूसरे वेद में ही ह्रस्व 'ए' या ह्रस्व 'ओ' मिलता है]

महाभाष्य में सामवेद की जिन शाखाओं का निर्देश है उनमें से केवल राणायनीय शाखा इस समय उपलब्ध है। इस शाखा के सामवेदी भी दक्षिण-

भारत में ही अवरुद्ध हैं और संभवतः दूसरी शाखा के सामवेदी भी वहीं होंगे, या रहे होंगे; क्योंकि दोनों का निर्देश साथ ही साथ है। दक्षिण-भारत में बहुत प्राचीन काल से द्रविड़-भाषा-भाषियों का निवास है। इस समय प्रचलित तामिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम् आदि द्रविड़ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' का ह्रस्व उच्चारण भी होता है और इन ह्रस्व ध्वनियों के व्यंजक वर्ण भी इनकी वर्णमालाओं में पाए जाते हैं। अतः प्रतीत होता है कि जिस समय अगस्त्य ऋषि ने इन द्रविड़भाषियों में वेदाध्ययन का प्रचार किया उसी समय से इनको सामगान में भी अपनी अभ्यस्त ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ध्वनियों के उच्चारण की व्यवस्थित छूट दे दी गई। यों ये ध्वनियाँ संस्कृत में सर्वथा अविद्यमान हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि वेदकालीन आर्यावर्त के अंतराल की आधुनिक बोलियों तक में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ऐसे स्थलों में भी नहीं पाए जाते जहाँ ध्वनि-विधान के अनुसार उनकी सत्ता होनी चाहिए। इसका वास्तविक कारण यही है कि बोलियों ने भी अभी तक अपनी वैदिक परंपरा का निर्वाह कर रक्खा है।

किंतु आदिम मातृभाषा के इन कल्पकों ने संस्कृत में उनकी अनुपलब्धि का और ही कारण खोज निकाला है। उनका कहना है कि भारोपीय आदिम भाषा के अ, ए, ओ (ह्रस्व या दीर्घ) संस्कृत में केवल 'अ' (ह्रस्व या दीर्घ) में परिणत हो गए हैं। उदाहरण के लिये उनकी कल्पना इस प्रकार है—

भारोपीय भाषा—अपो, ग्रीक—अपो, संस्कृत—अप; भारो०—नेभोस्, ग्री०—नेफोस्, लैटिन—नेबुला, सं०—नभस; भारो०—धे, ग्री०—टिथेमि, सं०—दधामि; भारो०—ओचुस्, ग्री०—ओकुस, सं०—आशुः; भारो०—ओमोस्, ग्री०—ओमोस्, सं०—आमः; भारो०—दोनोम्, लै०—डोनुम्, सं०—दानम् इत्यादि।

इन उदाहरणों पर दृष्टि डालते ही यह पता चल जायगा कि आदिम मातृ-भाषा में उन्हीं स्वरों की कल्पना की गई है जो ग्रीक या लैटिन में स्वरूपतः पाए जाते हैं। अर्थात् मातृभाषा के स्वर वर्ण यूरोप की आकर भाषाओं के आधार पर पर ही कल्पित किए गए हैं, संस्कृत के आधार पर नहीं। इसलिये ऋग्वेद का 'मधु' ग्री० मेथु, स्लाव मेदु, लिथुआनियन मेदुस् का विकृत या विकसित रूप है, मूल रूप नहीं, क्योंकि यूरोपीय भाषाओं के स्वर मातृभाषा के अधिक निकट हैं।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि जब मातृभाषा के स्वर कल्पित ही हैं तो उनकी कल्पना ग्रीक, लैटिन आदि के अनुसार ही क्यों की गई, संस्कृत के अनुसार

क्यों न की गई ? इसका उत्तर कल्पकों ने एक नियम बना कर दिया है। उस नियम को तालव्य-विधान या Law of palatalization कहते हैं। उसका उत्थान और स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

यह निश्चित है कि संस्कृत का 'अ' कभी तो मौलिक 'अ' का प्रतिनिधि है—जैसे सं० अजति, ग्री० अगेइ; कभी मौलिक 'ए' का—जैसे सं० अस्ति ग्री० एस्ति; और कभी मौलिक 'ओ' का—जैसे सं० पति ग्री० पोसिस्। इस विधान से साक्षात् संबद्ध एक और विधान है। यथा—मौलिक कंठ्य और ओष्ठकंठ्य ध्वनियाँ संस्कृत में कभी (१) कंठ्य ध्वनि के रूप में और कभी (२) तालव्य ध्वनि के रूप में पाई जाती हैं। जैसे (१) सं० कर्कट, ग्री० करकिनोस्; सं० युगम्, ग्री० जुगोम्, और (२) सं० च, ग्री० ते, लै० क्वे; सं० ज्या, ग्री० बिओस्, लिथुआनियन गिय। इस प्रकार मौलिक क, ग, घ, ध्वनियों का संस्कृत में कभी क, ग, घ के रूप में और कभी च, ज, ह के रूप में पाया जाना तालव्य-विधान के ही अनुशासन का फल है। इस विधान के अनुसार मौलिक कंठ्य ध्वनि भारतीय भाषा में तालव्य ध्वनि में परिणत हो जाती है यदि इ, ई या ए, अथवा अ या आ, जो मौलिक ए का स्थानापन्न हो अथवा य् (व्यंजन)—इनमें से कोई ध्वनि उस कंठ्य ध्वनि से अव्यवहित परे वर्तमान हो। परंतु इसके विपरीत यदि कंठ्य ध्वनि का परवर्ती उ, ऊ, या ओ अथवा मौलिक ओ, अ या किसी व्यंजन का प्रतिनिधि अ या आ हो तो वह ज्यों की त्यों रहती है, उसे तालव्यादेश नहीं होता।

अब इस तालव्य-विधान की थोड़ी परीक्षा कीजिए। इस विधान के अनुसार आप के परिचित च का अ मौलिक नहीं, किंतु विकृत या विकसित है, क्योंकि उसका मूल रूप ए है जो ग्रीक या लैटिन शब्द में स्पष्टतः वर्तमान है। यदि यह तालव्य ध्वनि यहाँ अपने रूप में न सही, विकृत अ के रूप में भी वर्तमान न होती तो भला मूल क्वे (लै० que) की 'क्' ध्वनि संस्कृत में 'च्' कैसे बन जाती! इसपर साधारण बुद्धि का मनुष्य भी पूछ सकता है कि जिस लैटिन शब्द में स्वतः तालव्य ध्वनि ए वर्तमान है उसमें इसने 'क्' को 'च्' में क्यों न बदल दिया, संस्कृत ही में क्यों इसने अपनी करामात दिखलाई ? इसी तरह ग्रीक ते का 'त्' क्यों न बदलकर 'च' हो गया ? संभवतः उत्तर मिलेगा कि लैटिन तो केंटुम् (Centum) वर्ग की भाषा है, उसमें 'क्' होना ही चाहिए। पर इस जबरदस्ती का कुछ ठिकाना

है ! आप लैटिन और ग्रीक के स्वरों को मौलिक मानेंगे तालव्य-विधान के नियम के आधार पर, पर जब वही नियम लैटिन और ग्रीक पर लगाया जायगा तो आप कहेंगे कि यह नियम लैटिन और ग्रीक पर इसलिये नहीं लगेगा कि उसमें तालव्य विधान की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। अर्थात् जो कुछ लैटिन या ग्रीक में दिखाई पड़े उसे तो मौलिक मान लीजिए और जो कुछ अन्यत्र उसके विपरीत दिखाई पड़े वह उसका (लैटिन या ग्रीक का) विकार मानिए। फिर तो यह अंधेरनगरी का फाँसी का फंदा हुआ। अगर यह फंदा ग्रीक या लैटिन के गले में नहीं आता तो डाल दो इसे संस्कृत के गले में ! फिर भी, यदि यह फंदा सवत्र संस्कृत के गले में फिट होता तो भी एक बात थी। हमें अवश्य यह विचार करना पड़ता कि क्या कारण है जो संस्कृत शब्दों में सर्वत्र हम उसी स्थल पर कंठ्य के स्थान में तालव्य वर्ण पा रहे हैं जहाँ तालव्य-विधान में निमित्त रूप में निर्दिष्ट वर्णों की सत्ता रहती है। पर बात ऐसी नहीं है। हम सैकड़ों ऐसे उदाहरण पाते हैं जहाँ किसी निमित्त का केवल अभाव ही नहीं, किंतु अनिमित्त मानी गई ध्वनियों की सत्ता होने पर भी स्वतंत्रता से तालव्य-विधान होता है।

[अपूर्ण एवं अप्रकाशित]

Dr. KEITH ON APABHRANSA

A prolific and voluminous writer as Dr. Keith is known to be, he may well be called the Hemacandra of Scotland. No branch of Sanskrit literature has escaped his untiring and ever-busy pen and no topic contained in the Vedas down to the Vetâla-pañcavimsatikâ has been denied appreciation, of course in the language and style so peculiar to him. Of his latest achievement, A History of Sanskrit Literature, he has devoted the first part to the investigation of the languages, and just like his great predecessor, he has written on the Apabhramsa language also.

In his verdict on Apabhramsa he has mainly touched on two points: firstly, that the scheme constructed by Sir

G. Grierson for the derivation of modern vernaculars from the various local Apabhramsas is merely a theoretical scheme and will not stand investigation, for the evidence of texts and even of the literature proves clearly that Apabhramsa has a different singification, and secondly, that the essential fact regarding Apabhramsa is that it is the collective term employed to denote literary languages, not Sanskrit or Prâkrit, (देशभाषा). Relying on the authority of Dandin he has laid special stress on the term Apabhramsa being applied to the idioms of Âbhîras, etc., appearing in poetry, for it were they who infused into Prâkrit a measure of their own vernacular and sought to create a literature of their own by producing Apabhramsa and spreading it along with their civilization as a literary language from the Panjab to Bihar.

As regards the first point it can safely be admitted that unless and until sufficient materials are at hand, it would be rather risky to support the view of Sir G. Grierson. But his hypothesis is sure to gain ground at last, for the reasons so far furnished and materials so far supplied by scholars seem quite favourable to it.

Dr. Keith has, however, modified his sweeping remarks against the hypothetical scheme by admitting a considerable amount of resemblance to Apabhramsa in old Gujarâtî, but denying the same in other cases.

But it would not be out of place here if I present some substantial matter in support of the hypothesis so summarily dismissed by Keith, which every student of philology also will, I am sure, have some hesitation in explaining away

with any show of cogency. The language which I speak at home is a patois of the so-called Eastern Hindî, assumed by Grierson to have been derived from Ardhamâgadhî Apabhramsa, and is one spoken in and around Benares.

I propose now to convert some of the Apabhramsa verses cited as examples in the Apabhramsa section of the Prâkrit Grammar of Hemacandra into the patois and to point out some Ardhamâgadhî traits in the conversion. This, I hope, will go a long way towards convincing my readers of the soundness of the scheme under discussion, and will plainly show that Apabhramsa elements are not only to be found in those western languages alone, which Keith has been at pains to connect somehow or other with Âbhîras, but in the eastern languages also, and that Apabhramsa was so popularly used for some time that its traits are still noticeable in its offshoots:—

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मनोरथ पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करत म अच्छि ॥७५॥

दिनवाँ (For the use of दिन see दिणयरु खयगालि—६२ हे० ब्या०; अज्जु विहाणउँ अज्जु दिणुं—कुमारपालप्रतिबोध) जायँ झटपटय पडयँ मनोरथ पाछ । जवन (cf. कवणुगुणु—हे० व्या० ८४) बाटय (From Skt.*√वर्त् to exrist, अपभ्र० वट्ट, cf. मग्गेहिं तिहिंवि पवट्टइ Ibid. २५) तवन मानय, होई करत मत (Skt. मा तावत्) रह (cf. सुरसरि सिरमह रहइ, प्राकृत-पिंगल १११).

N. B.—Wherever I have used words in the conversion not derived from those in the text, I have referred to their original sources, of course in the Apabhramsa language.

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेणवि मुंडिअउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥७६॥

आछत (cf. जं अच्छइ हे० व्या० ७५) भोग जे छोड़य (cf. बाह बिछोडवि Ibid. १६२) तेह कन्ताक बलि (कयल) जावँ (cf. बलि किज्जउं सुअणस्सु Ibid. १३) तेकर (cf. जसुकेरएं हुंकारडएं Ibid. १३६) दैवय (से) मूँडल जेकर (cf. १३६) खल्लड सीस.

पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥८४॥

पूत भइले (See रंभा मंजरी–११) कवन गुन, अवगुन कवन मुअले (प्रा० पिं० १६०) जेकरे (See above) बापेक भुँइयाँ चाँपल जाय अउरे (से).

ओ गोरी मुहनिज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवंइ निसंकु ॥६३॥

ऊ गोरी (के) मुँह (से) जीतल बदरे लुकल मयंक; आनो जे धूसल (Skt. ध्वस्त from√ध्वंस् to be vanquished) से कैसे (Skt. कीदृश) घूमय (See हे० व्या० ४।११७; प्रा० पिं० १६०) निसंक.

साव सलोनी गोरडी नक्खी कवि विसगंठि ।
भडु पच्चालिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥१२३॥

सवै सलोनी गोरिआ (cf. गोरी तिम्मइ अज्जु ११५) नोखी कोई बिसकै गाँठ (Mark the dissolution of the compound) भट उलटय (See उल्लट, देशीना. ७,८१) से मरय जेकरे (cf. १३६) न लगय गरे (cf. गलि मनिअडा न बीस १४५).

एक कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी
तहं पंचहं वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुए तं घरु कहि किंव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पणछन्दउं ॥१३६॥

एक कुडुली पाँच [से] रूँधी तेह पाँचों क बी जुदैजुदा (Skt. युतयुत,√यु to separate; cf. Persian जुदा) बुद्धी । बहिनी, तवन घर कहाँ काहे (cf. किह ठिउ सिरि आणन्द ६४) [अ] नन्दय जेहिन कुटुमो छन्दी (Skt. स्वच्छन्द = अप्पणछन्दउँ).

सिरि जरखंडी लोअडी गलि मनिअडा न बीस ।
सो वि गोट्ठडा कराविया मुद्धए उट्ठबईस ॥१४५॥

सिर जरखंडी लुगरी गरे मनिआँ न बीस। तबो गोठे करउलेस भोली (cf. भोली मुंधि म गव्बु करि, प्रबंधचिंतामणि) ऊठबइठ (बइस is also a rustic form of the patois).

I think this will suffice to prove clearly what I have said before. For translation of the verses, see Pischel, which I have purposely refrained from giving here, in order to make the comparison clearer and more independent.

I wish now to draw the attention of my readers to some of the words which are used in the verses and the patois, and which are important from the Apabhramsa point of view, my further object being to point out some Ardhamâgadhî traits therein, with a view to prove that the etymological relation of Eastern Hindi with Ardhamâgadhî Apabhramsa is not spurious, but is based on substantial grounds :—

(1) जवन, तवन, कवन in the patois are purely Apabhramsa forms partly noticed by Hemacandra in किमः काइंकवणौ वा८।४।३६७.

(2) वट्टइ, रहइ etc., of Apabhramsa are pronounced as बाटय, रहय etc,, in the patois simply for the reason that इ and य are interchangeable.

(3) Instead of को, जो, सो in the Apabhramsa taught by Hemacandra, the use of के, जे, से in the patois is simply due to Ardhamâgadhî iufluence.

(4) कयल, भयल, मुअल, गयल, मूँइल, चाँपल etc., are all past participles having the pleonastic suffix अल peculiar to Mâgadhî Apabhramsa hinted at by Hemacandra in his sûtra 8, 4, 427.

(5) कर in तेकर, जेकर etc., and क in कन्ताक, पाँचोक etc., are derived from केर of Apabhramsa advocated by Hemacandra in 8, 4, 422.

(6) The resemblance between खल्लिहडउ and खल्लड़, चम्पिज्जइ and चाँपलजाय, बद्दलि and बद्रे, लुक्क and लुकल, नवखी and नोखी कुडुल्ली and कुडुल्ली, कहि and कहीं, अप्पणछन्द and छछंद, लोअडी and लुगरी is quite sufficient to show the genetic affinity of the two languages, and leaves no room for such doubts as Keith has entertained about their relations.

(7) Disappearance of case-endings is a recognized characteristic of Apabhramsa, and instances are not rare even in the above few quotations. When this practice came into vogue, the great syntactical confusion was sought to be avoided by the addition of the new postpositions to the shrunken and worn-out forms of Apabhramsa. For example, take अउरे, पाँचो etc. These, though being themselves inflected forms, require से, क etc., to assert their morphological position in a sentence. This tendency can also be noticed even in Apabhramsa itself. The phrase बप्पी की भुंहड़ी furnishes an instance in point.

(8) The use of र for Mâgadhî ल as evinced in बद्रे for बद्दलि, गरे for गलि, etc., is a well-marked tendency now, but perhaps at one time was the rule in central and western Mâgadhî (see Dr. S. K. Chatterji's The Origin and Development of the Bengali Language, para 52).

(9) The pleonstic suffix ड or डड is very common in Apabhramsa. Our patois also has preserved it in मुखड़ा, बछड़ा, लोथड़ा, etc.

(10) The nominative in उ, the commonest feature of Apabhramsa has been confined in the patois to proper nouns only. रामू, ननकू, घसीटू, मँगरू are examples of this.

(11) Compounds like गोरीमुहनिज्जिअउ, परिहणिअतणु, etc., are such literary artifices as language is bound to contrive when it begins to put on poetic trammels.

From what has gone before, the reader will see at a glance how closely a thousand year old language is related to its daughter of the day, thereby disproving the segregation advocated by Keith on the strength of meagre evidence. This affinity constitutes internal evidence which is doubtless worth more than a hundred slender hypotheses to the contrary.

The second point remains to be considered now. Dr. Keith says that Apabhramsa is a name given to some literary languages, which were nowhere spoken and were different from Sanskrit and Prâkrit. But this assertion contradicts the same Rudrata on whose authority he has relied so much. Rudrata declares in very plain words that among the languages, the sixth, i. e. Apabhramsa is of many kinds on account of the difference of lands where it was spoken– षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश:. Keith has unsuccessfully tried to narrow down the broader sense of the statement by taking देश विशेष to mean only the lands of Âbhîras and Gurjaras, etc., though his conscience itself is not clear, as he, in disagreement with what he says here, has written on page 34 that "But once Apabhrañça had become popular, perhaps through the activity of the Âbhîra and Gurjara princes it spread beyond the west and various local Apabhrañças arose, as is recognized by Rudrata." I cannot quite follow the arguments advanced to connect the Apabhramsa language so exclusively with Âbhîras and Gurjaras.

The term Apabhramsa for the first time appears in the Mahâbhâsya in connection with language, and etymologically it means 'corruption' or 'deterioration' of norm. This

corresponds exactly with the Vibhramsa or Vibhrasta of Bharata, which is nothing but a particular linguistic phenomenon. The word Apabhramsa then, had nothing to do with the Âbhîras, nor had it acquired its later connotation, viz., people's dialect or dialects and vehicle of literature, like the various Prâkrits. When Sanskrit was standardized, any deviation from the norm meant Apabhramsa, and it is what Dandin has expressly told us by शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्.

But, in obedience to philological law, Sanskrit could not maintain its sway for ever, and it began to deteriorate gradually. At this juncture, as the structure of the language was still almost the same and considerable foreign matter had not found its way in, cultured society tolerated this corruption of the vocables at the hands of their own people and gave to the speech the significant name of Prâkrit—'natural', 'common' or 'ordinary' language. In course of time even this less favoured speech became the idol of its votaries in whom it inspired the same respect and zeal as its predecessor. This also died a natural death yielding place to a tongue which not only inherited the legacy reserved for it, but also high-handedly added a large amount of foreign matter to it. This was too much to digest and assimilate and an altogether new language was therefore the result of this surfeit. It began practically to lose its inflectional character ह, हि, हु, taking the place of old case-endings. This was doubtless an utter deterioration of the norm, and Âryan people could not help calling it, though indignantly, apabhramsa—'corruption' or 'deterioration.' The investigation whether the foreign matter pertained to

Âbhîras or Gurjaras concerns ethnology more than philology, and does not therefore deserve elaborate discussion here. What can be positively asserted here is that the refined Prâkrits became turbid by the admixture of some very coarse, unrefined and vulgar matter. It was possibly Âbhîras who first thrust their vernacular into Prâkrit. And the disappearance of Sarasvatî (the river as well as the speech), attributable to their abhorrence of it (vide Mahâbhârata, IV, 20, 798), is very significant, in this connection. At first the mixture came to be called आभीरोक्ति or आभीरी after them. There is mention of this आभीरोक्ति in the oldest document (भरत's Nâtyasâstra, 18, 44, Banaras edition, 1929) extant in this field of literature. But when this corruption introduced by Âbhîras or Gurjaras developed into a widespread linguistic phenomenon and was imbibed by almost all the Prâkrits of different countries, the appellation आभीरोक्ति being unsuited to the wider sense, was confined to the proper आभीर dialect. Markandeya in his Prâkritsarvasva has clearly indicated that fact by mentioning आभीरी as different from Apabhramsa. Dandin by saying आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः has only reminded us of the original sense of the term, and nothing more. Had Apabhramsa been from beginning to end connected exclusively with Âbhîras or others, it could not have flourished so much nor comprised so vast a literature as to claim the careful attention of such conservative Sanskrit poeticians as Bhâmaha and Dandin.

Of textual evidence there is an abundance, but I shall cite here only a few examples to show that Dr. Keith's

allegation that Apabhramsa was never a vernacular and that it was different from Sanskrit and Prâkrit is baseless.

Namisâdhu, while commenting upon the same passage of the Kâvyâlamkâra (II, 12) of Rudrata, which has been the basis of Keith's verdict, quoted above, has the following remarks on Apabhramsa:—

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादवसेयम्।

The importance of the passage lies in the fact that Namisâdhu (1) recognizes Apabhramsa as one of the Prâkrits themselves, (2) names the varieties laid down by others before him as being upanâgara, Âbhîra and grâmya, (3) expressly says that they are many more than three, and, what is most impontant of all, (4) points to the people themselves as the best source to learn it. The last point is most significant as showing that by the time of Namisâdhu, who finished his commentary in 1069 A. D., the Apabhramsa of many dialects had not ceased to be spoken by common people.

In the following quotations there is an express mention of the fact that Apabhramsa was a vernacular:—

देशेषु देशेषु पृथग् विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तुवक्तुम्। लोकेषुयत्स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥

(Visnudharmottara, Book 3, ch. 7.)

अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते।

(Ibid, B. 3, ch. 3)

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

(Vâgbhata's Kâvyâlamkâra, 2-3).

'देशोद्देशो स्वदेशगीः'। देशस्य कुरुमगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्वस्वदेशसंबंधिनी भाषा निबंधनीया इति इयं दशगाश्च प्रायोऽपभ्रंशे निपततीति।

(Râmacandra's Nâtyadarpana, with his own commentary, Ms. in Baroda, leaf 124, being edited for G. O. Series.)

'भाषाः षद् संस्कृतादिकाः' । भाष्यन्ते भाषाः संस्कृत प्राकृत मागधी शौरसनी पैशाच्यपभ्रंशलक्षणाः ।

(Hemcandra's Abhidhâna-chintâmani, with his own commentary, 2. 199).

(Quite contrary to this, Keith says that "Hemacandra also does not identify Apabhramsa with the vernaculars.")

Besides a Prâkrit work named Kuvalayamâlâ, written in 778 A. D. by a Dâksinya Cinhodyotanâchârya, has recorded many informing and interesting topics concerning the vernaculars of the time. It gives a very lively and vivid description of Apabhramsa, which displays the vivacity and power of absorption of a living and current language—'''अवहंसं'''सक्कयपाय उभयसुद्धासुद्धपयसमतरंगरंगतवग्गिरं णवपाउ सजलयपवाहपूरपव्वालियागिरिणइसरिसंसमविसम पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लाव सरिसंमणोहरं । (Jaisalmer Bhandâr, Palm leaves 57 and 58). i. e., Apabhramsa is now gentle, now rough and turbulent like the mountain rivulet swollen by the rains of the fresh monsoon clouds, is graceful equally with corrupt and uncorrupt words belonging both to Prâkrit and Sanskrit like the playful ripples, is fascinating like the amorous babbling of a lady piqued in a love quarrel.

The above work also contains some lively conversations in the living language of the time, which are very important from the Apabhramsa point of view and leave no room for any objection whatever to the acceptance of Apabhramsa as a vernacular.

In order to differentiate Apabhramsa from vernacular, Keith has resorted to the Kâmasûtra,, which, as he thinks, "In enumerating their (i. e., of hetairai) sixty-four accomplishments, includes knowledge of vernaculars as well as of literary speeches (Kâvyakriyâ)". "Moreover it (Kâmasûtra) preserves the interesting notice that a man of taste would mingle his vernacular with Sanskrit, as is the way with modern vernaculars, not with Apabhrañça."

Unfortunately both the arguments based on the Kâmasûtra are wrong. In the first Dr. Keith has taken the textual term to mean literary speeches, but it never conveys that sense. It always means 'the composition of poems' only,—and can never, therefore, be contrasted with what is meant by 'vernacular.' As regards the second argument, the plausible inference of Keith that Apabhramsa never drew upon Sanskrit, as modern vernaculars do, is nullified by the above quotation from the Kuvalayamâlâ and by Râjasekhara, who expressly says in his Kâvyamîmâmsâ that—

'ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिंगितं पठेत्' (Kavyamimamsa ch. 7, p. 33)

(Apabhramsa should never be recited but by making it more graceful by the intermingling of Sanskrit with it.)

N. B.—I am indebted to the writer of the introduction to the Apabhramsa Kâvyatrayî for utilizing his valuable quotations from MSS.

(Indian Antiquary, Vol. Lix, 1930, pp 1-5)

कुर्सी पर बैठे हुए बाईं ओर से—श्री शिवमंगल सिंह "सुमन", डा० श्री कृष्णलाल, श्री विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, डा० यू० सी० नाग, डा० स० राधाकृष्णन, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री पद्मनारायण आचार्य, श्री ओमप्रकाश गुप्त। (सं० २००४, सेंट्रल हिंदू कालेज)

केशवप्रसाद मिश्र।

Keshava Prasad Misra,

आचार्य केशव जी के हस्ताक्षर

संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ

मार्मिक भाषातत्त्वज्ञ और उत्तम कवि

मैं श्री केशवप्रसाद जी मिश्र को प्राय: सन् १९२८-२९ से जानता था। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं है पर स्यात् उन्होंने रणवीर पाठशाला में ही विद्यासंग्रह किया था। वे सेंट्रल हिंदू स्कूल में अध्यापक थे और अपनी योग्यता के कारण विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक और फिर उसी विभाग के अध्यक्ष हो गए थे। संस्कृत के तो विद्वान् थे ही, अँग्रेजी बहुत अच्छी जानते थे और पाली, प्राकृत आदि अन्य भाषाओं के भी मार्मिक ज्ञाता थे। वे अच्छे भाषातत्त्वज्ञ थे तथा हिंदी में बहुत उत्तम कविता करते थे। खड़ी बोली की कुछ कविताएँ उन्होंने मुझे दिखाई थीं। बहुत सरस थीं। आयु कम पाई उन्होंने, यह दुःख का विषय है। यदि जीते रहते तो हिंदी साहित्य का और उपकार करते।

—(डा०) भगवानदास

असाधारण एवं बहुमुखी-प्रतिभाशील विद्वान्

आचार्य द्विवेदी जी जिस प्रकार हिंदी गद्य को परिष्कृत कर रहे थे उसी प्रकार खड़ी बोली की कविता को भी कवि और कृती प्रदान कर रहे थे। भाई मैथिलीशरण तो उनके निर्माण हैं ही, जो आज भी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं, कितने ही अन्य कवियों को भी उन्होंने या तो आत्मविश्वास दिलाकर रचना में प्रवृत्त किया या व्रज भाषा से खड़ी बोली लिखने के लिये प्रेरित किया। परिणामतः कितने ही युवक अच्छी कविता बोलचाल की हिंदी में करने लग गए थे।

प्रसाद जी का युग अभी नहीं आया था, यद्यपि वे भी स्वतंत्र रूप से खड़ी बोली में लिख रहे थे। अतएव गुप्त जी के अतिरिक्त जो दर्जनों कवि सुंदर रचना करने लगे थ उन सबसे परिचित रहना कुछ कठिन सा होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में जब एक दिन द्विवेदी जी महाराज ने खड़ी बोली में मेघदूत के एक सरस अनुवाद की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया तो स्वभावतः मुझे अचरज हुआ। वे काशी आए और जिस समय मुझसे यह चर्चा कर रहे थे उस समय उनके संग

उनके एक स्वजन श्री रुद्रदत्त भी थे, जो उसी सेंट्रल हिंदू स्कूल (बनारस) में काम कर रहे थे जिसमें आचार्य केशवप्रसाद जी संस्कृत अध्यापक थे। द्विवेदी जी महाराज ने उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—'रुद्री, कृष्णदास से केशव जी को लाकर मिलाना।' इस प्रकार केशव जी से मेरा पहले-पहल परिचय १९१८ ई० में हुआ। तब वे मेरे लिये हिंदी के एक उदीयमान कविमात्र थे, जिनसे मेघदूत को पूरा कराकर प्रकाशित करने के लिये मैं उत्कंठित हो रहा था।

धीरे-धीरे हम लोगों का परिचय बढ़ा, तब मैंने जाना कि वे मेरे बहुत निकट के व्यक्ति हैं। मेघदूत के मिस मिलना तो द्रविड़ प्राणायाम मात्र था। वे मेरे कितने ही संबंधियों के बहुत निकट व्यक्ति थे। इस प्रकार शीघ्र ही हम घनिष्ठ हो उठे। मैंने तब जाना कि केशव जी को संस्कृत व्याकरण और साहित्य पर असाधारण अधिकार था और उनकी प्रतिभा बहुत ही निखरी हुई थी। पंडिताऊपन उसमें छू न गया था। व्याकरण और साहित्य के साथ-साथ धर्मशास्त्र, वैद्यक और दर्शन का भी उन्हें बहुत विशद बोध था। तिसपर से परम मसृण स्वभाव। इस प्रकार उनकी बातचीत इतनी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होती कि संग छोड़ने का मन ही न होता। दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और महीनों पर महीने हम लोग साथ बिताने लगे। प्रसाद जी भी प्रायः इस मंडली में रहते, मैथिलीशरण तथा अजमेरी जी भी साल में दो-तीन बार चिरगाँव से आया करते और हम लोगों की खूब घुटा करती। कभी नाव पर, कभी बाग-बगीचे में, कभी गंगा-किनारे शांति-कुटीर में। देखने में जिंदगी बेकारी की थी, किंतु सभी किसी-न-किसी काम में लगे थे।

केशव जी अब संस्कृत की ओर से हिंदी की ओर खिंच रहे थे। भाषाशास्त्र का इतना बड़ा विद्वान् जो संस्कृत के लिये जाने कितना महत्त्वपूर्ण काम करता, काशी-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में खिंच आया और उसके अगाध संस्कृत-ज्ञान का लाभ उसके सहयोगी प्राध्यापकगण उठाने लगे।

कलाभवन भी उन दिनों स्थापित हो चुका था। केशव जी को आरंभ से ही उसमें रस था और १९२२ ई० में कलाभवन को उन्होंने किराए के मकान से निकाले जाते बड़े दुःख के साथ देखा। कौन जान सकता था कि यह पीर उनके हृदय में बराबर बनी रही और १९२८ ई० में जब उन्होंने पाया कि डा० श्यामसुंदरदास नागरीप्रचारिणी सभा में एक संग्रहालय बनाना चाहते हैं तो उन्होंने उनका (डा० दास का) ध्यान कलाभवन की ओर दिलाया और १९२९ में कलाभवन को सभा

में ले जाकर पुनः चालू करा दिया। उन्हीं के इस सदुद्योग का यह परिणाम है कि आज कलाभवन इतना प्रकांड वृक्ष हो उठा है।

अब तक हिंदी का संबंध संस्कृत और प्राकृत से ही माना जाता था। अपभ्रंश का भी पता लग चुका था और यह स्थिर हो चुका था कि हिंदी की जननी प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है। किंतु गुलेरी जी के बाद हिंदी के किसी विद्वान् ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। केशव जी ने अब अपनी बहुमुखी प्रतिभा को एकाग्र करके अपभ्रंश पर लगाया और उसके अंतस् में पैठे। अपने इस अपार ज्ञान को यद्यपि उन्होंने किसी ग्रंथ के रूप में हमें नहीं दिया, फिर भी उनके अनेकानेक शिष्य उनके चलते-फिरते ग्रंथ हैं जो उनके इस ज्ञान-प्रदीप को नित्य जाज्वल्यमान रक्खेंगे।

—(राय) कृष्णदास

'दिसापामोक्ख' आचार्य

आचार्य केशवप्रसाद जी का प्रथम परिचय मुझे १६४० ई० के लगभग हुआ, जब मैं रायकृष्णदास जी के यहाँ काशी आकर ठहरने लगा। प्रथम दर्शन से ही उनके अगाध पांडित्य की छाप मुझपर पड़ी। मेरे मन ने तुरंत कहा—ये वह व्यक्ति हैं जिन्होंने शास्त्रों को केवल पढ़ा नहीं, गुना है। केशव जी की सूक्ष्मान्वेषी दृष्टि वस्तु के मर्म तक पहुँचती थी। साहित्य और व्याकरण की विस्तृत वीथियों में उनका नागावलोकन—भरपूर दृष्टि—देखकर चित्त को आश्वासन मिलता था। शास्त्र तो अनेक व्यक्ति पढ़ते हैं, किंतु उसका रस लेनेवाले व्यक्ति बिरले ही होते हैं। केशव जी अपने मन पर भारी-भरकम पोथों का बोझा नहीं ढोते थे। वे अपनी पैनी समीक्षा से शास्त्र को तेजस्वी बनाते और तब बाल-सूर्य के आतप की भाँति उसके प्रकाश का आनंद लेते; अथवा चंद्रमा की ज्योत्स्ना की भाँति उससे औरों को आनंदित करते। कई बार भाषाविज्ञान की गुत्थियों को लघु प्रयत्न से समझाते हुए मैंने उन्हें सुना। उनकी व्याख्या-शैली में रस बरसता था, मन विषय को आगे बढ़कर जानने के लिये आकुल हो उठता था। यों तो केशव जी अनेक विषयों में पारंगत थे, किंतु भाषाशास्त्र के तो वे आसमुद्र चक्रवर्ती थे। आज यह कसक बनी हुई है कि क्यों नहीं मैंने उनके इतने समीप आकर भी इस शास्त्र का कुछ ब्रह्मदाय उनसे प्राप्त किया। यह मेरी ही उपेक्षा रही। समय पर अधिक विश्वास किया, सोचा कि केशव जी हमारे बीच में चिरजीवी रहेंगे। इसी लिये उनके उठ जाने का शोकप्रद समाचार जब मुझे मिला तो मन में गहरी व्यथा हुई।

अंतिम बार जूलाई १९५० में मैंने उनके दर्शन किए, उस समय वे शरीर से अस्वस्थ हो चुके थे। काशी-विश्वविद्यालय में भारत-कला-भवन के नए भवन की नींव रक्खी जानेवाली थी। सुहृद्वर राय कृष्णदास जी की आज्ञा से उसके लिये संस्कृत ताम्रपत्र का लेख रचकर मैं उसे संशोधन के लिये श्री केशव जी के पास ले गया। अपने शयन-कक्ष में ही उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे सुना और रख लिया। अगले दिन मूल्यवान् संशोधनों के साथ वह लेख उन्होंने भेज दिया। मुझे सदा प्रसन्नता रहेगी कि कलाभवन के लिये इस रूप में उनका भी आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

केशव जी, प्राचीन शब्दों में कहें तो, "दिसा पामोक्ख" आचार्य थे, जिनका यश दूर-दूर से छात्रों को अपनी ओर खींचता था। उनका पांडित्य और ज्ञान आकाशवर्षी मेघों के जल की भाँति छात्रों और मित्रों के लिये सदा सुलभ था। मौखिक व्याख्यानों के द्वारा वह ज्ञान-सत्र केशव जी के जीवन पर्यंत चलता रहा। आज हृदय अपनी इस हानि पर दुःखी होता है कि लेख रूप में भाषाविज्ञान की वह अमूल्य निधि उनके साथ ही शेष हो गई।

—(डा०) वासुदेवशरण अग्रवाल

पवित्र ज्ञान-साधक

पं० केशवप्रसाद जी से मेरा परिचय बहुत पुराना था। जब कभी मैं काशी आता था, उनके दर्शन का प्रयत्न अवश्य करता था। उनसे मिलना मानसिक गंगा-स्नान के समान होता था। उनके अत्यंत सौम्य-प्रसन्न मुख से जो वाणी निकलती थी वह सचमुच ही गंगा के समान पवित्र होती थी। उनका अध्ययन गंभीर था और वह विशुद्ध ज्ञान-पिपासा का फल था। पंडित जी किसी और उद्देश्य से अध्ययन नहीं करते थे। उनसे बहुत कम जाननेवालों में भी मैंने यशोलिप्सा का ऐसा प्राबल्य देखा है जो दंभ की सीमा तक पहुँच जाता है। परंतु पंडित जी की ज्ञान-साधना में एक प्रकार की पवित्रता थी जो दूसरे को शांति देती है और प्रेरणा देती है। ज्ञान को उन्होंने प्राचीन भारतीय पंडित की दृष्टि से ही देखा था— 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

पंडित जी की रुचि नाना शास्त्रों में थी, परंतु संस्कृत के ज्ञान-भांडार की ओर उनका सहज आकर्षण था। कोई भी बात चलाइए, वे घूम-फिरकर संस्कृत के महान् साहित्य की ओर चले आते थे। इस साहित्य के प्रति उनका अत्यत गंभीर आकर्षण था। पुराने आचार्यों के विचारों के प्रति उनकी श्रद्धा कभी उचित मात्रा से भी

अधिक हो जाती थी। वे नए विचारों को ग्रहण करने में झिझकनेवालों में नहीं थे, परंतु नए का 'नयापन' वे सहज ही नहीं स्वीकार करते थे। प्राचीन ज्ञानभांडार में सचमुच यह बात है या नहीं, पहले इसका संधान कर लेना वे उचित समझते थे और प्रायः वे इस प्रकार की बात कहते थे जिससे जान पड़ता था कि इसका कुछ-न-कुछ बीज संस्कृत के ज्ञानभांडार में हैं। भाषाशास्त्र के तो वे गिने-चुने विद्वानों में से थे, परंतु इस शास्त्र में भी वे हर बात को न तो नया आविष्कार मानने को तैयार थे और न हर नए पंडित की नई स्थापना को आँख मूँदकर स्वीकार करने के पक्ष में थे। 'शिक्षा' नामक वेदांत का उन्होंने जमके अध्ययन किया था और कई आधुनिक भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों के बीज उन्होंने इस शास्त्र में खोज निकाले थे। कभी-कभी वे भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों को उस रूप में स्वीकार करते थे जिस रूप में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने संकेत किया है। ऐसे किसी तत्त्व का उद्घाटन करते समय उनकी आँख चमक उठती थी—वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में उनका मन रम जाता था।

मुझे कोई ऐसा अवसर याद नहीं है जब पंडित जी से बातचीत के प्रसंग में पाणिनि महाराज न आ गए हों। पाणिनि की पद्धति पर उनका विशेष अनुराग था। वे महाभाष्य और काशिकावाली परंपरा के तो बहुत भक्त थे, किंतु भट्टोजि दीक्षित की पद्धति को नापसंद करते थे। महाभाष्य में या काशिका में आए हुए उदाहरणों का अर्थ-विचार प्रायः पंडित-समाज में उपेक्षित रह गया है। पंडित जी ने इन उदाहरणों के अर्थों पर खूब मनन किया था। उन्होंने अपने एक प्रिय शिष्य पं० राधारमण जी को इस कार्य में प्रवृत्त भी किया था इन उदाहरणों का अर्थ कितना मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है, यह बात पंडित जी से बात करने पर स्पष्ट होती थी।

पंडित जी संस्कृत व्याकरण के निष्णात विद्वानों में से थे। उसमें उनका मन खूब रमता था। इसका प्रसंग उठते ही वे आत्माराम हो जाते थे। बीमारी की अवस्था में भी वे घूम-फिरकर इसी विषय पर आ जाते थे। कभी मैं रोकना चाहता तो कहते, नहीं मुझे कोई कष्ट नहीं हो रहा है। सचमुच ही व्याकरण और भाषाशास्त्र की बातों से उन्हें आराम मिलता था। वे ऐसे अवसर पर अपने आपको और अपने कष्टों को एकदम भूल जाते थे।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भी उन्होंने बड़ा गंभीर अध्ययन किया था। परंतु मेरे साथ जब कभी वे बात करते थे तो घूम-फिरकर पाणिनि के

व्याकरण पर आ जाते थे। अपभ्रंश की चर्चा करते मैंने उन्हें केवल एक बार सुना है; सो भी मेरे एक विद्यार्थी के लिखे एक लेख की त्रुटियों को बताने के उद्देश्य से। ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य उनका वैसा प्रिय विषय नहीं था जैसा पाणिनि व्याकरण या भाषाशास्त्र। हिंदी साहित्य की भी चर्चा वे कम ही करते थे। मैं जब जब उनसे मिला तब तब उन्हें संस्कृत के गाढ़ अनुरागी के रूप में ही पाया। संस्कृत के साहित्य के किसी अंग की चर्चा छिड़ते ही वे मगन हो जाया करते थे।

कम लोग जानते हैं कि पंडित जी ने आयुर्वेदीय ग्रंथों का भी मंथन किया था। उन्हें इस चिकित्सा-पद्धति पर बड़ा विश्वास था। अपने रोगों का निदान और चिकित्सा वे स्वयं कर लेते थे। गुग्गुलु के प्रयोगों पर उनका बड़ा भारी विश्वास था। मैं भी वातरोगी था और जब कभी वातरोग का प्रसंग उठता था—और समानधर्मा रोगियों में अपने रोग की चर्चा किसी-न-किसी बहाने हो ही जाया करती है—तो मुझे गुग्गुलु-सेवन की सलाह देते थे। गुग्गुलु सेवन के लिये वे प्रातःकाल चाय भी लिया करते थे। इस अनुपात के चुनाव के कारण पंडित जी की विवेकबुद्धि पर मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई थी!

एक बार बातचीत के प्रसंग में मेरे मुह से 'प्रज्ञापराध' शब्द निकल गया। पंडित जी बहुत प्रसन्न हुए। बोले, आपको यह शब्द कैसे मालूम हुआ। उनके प्रश्न से मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, मैं तो इस शब्द को बहुत दिनों से जानता हूँ। मेरे परिवार में कई अच्छे वैद्य हैं। उनके मुख से मैंने यह शब्द सुना होगा। पंडित जी को बहुत आनंद आया और वे चरकसंहिता में प्रयुक्त हुए अर्थगर्भ शब्दों पर विचार करने लगे। देर तक वे इस विषय पर जमे रहे। फिर बोले, आखिर चरक भी तो पतंजलि के ही एक रूप हैं। मैंने विनोद करते हुए कहा—अब आप फिर पाणिनि की ओर लौट रहे हैं! पंडित जी ने इस विनोद का खूब रस लिया। देर तक हँसते रहे।

अलंकारशास्त्र में भी उनकी बड़ी गति थी। पर उसके भी व्याकरणवाले अंश की ओर उनका झुकाव अधिक था। नाट्यशास्त्र का उन्होंने बड़ी सावधानी से अध्ययन किया था।

जब कभी पंडित जी के असाधारण पांडित्य की याद आती है तभी मनमें बड़ी वेदना होती है। मैंने कई विद्यार्थियों से कहा था कि पंडित जी की बातों को

नोट कर लिया करो और उन्हें बाद में दिखाकर संशोधन करा लो। पर यह बात हो नहीं सकी। अंतिम दिनों में उनकी इच्छा ग्रंथ लिखने की थी। पर विधाता को यह मंजूर नहीं था। वे बड़ी जल्दी महाकाल के दरबार में बुला लिए गए। विशाल ज्ञान का भांडार सदा के लिये हाथों से निकल गया।

पंडित जी सच्चे अर्थों में तपस्वी थे। मौन साधना का ऐसा उदाहरण कम मिलेगा। सब प्रकार के प्रपंचों से दूर रहकर ऐकांतिक निष्ठा के साथ अध्ययन और अबाध भाव से विद्यार्थियों को वितरण—ये ही दो कार्य उन्होंने अपने जीवन में किए। उनकी स्मृति मात्र से हृदय में प्रेरणा का संचार होता है। वे आदर्श अध्यापक थे—सहज ज्ञानी, अकातर दानी और सदा ग्रहण करने को तत्पर।

—(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

दुर्लभ पुरुषरत्न

श्री काशीपुरी के भदैनी (भद्रवनी) महाल में ब्राह्मणों की प्राचीन बस्ती है। इसमें धृत कौशिक गोत्रीय मिश्र घराना अत्यंत प्रतिष्ठित है जिसमें एक से एक बड़े विद्वान् होते चले आए हैं। इसी घराने के एक महापुरुष पेशवा के यहाँ राजवैद्य थे। उनके विषय में सुना जाता है कि वे छः महीने पहिले मृत्यु संबंधी भविष्यवाणी कर दिया करते थे और कभी अंतर नहीं पड़ता था। मैंने पं० भगवतीप्रसाद मिश्र को देखा है जिन्हें इस वंश का भूषण कहना चाहिए। बड़े अनुभवी पीयूषपाणि वैद्य थे। श्री केशवप्रसाद मिश्र इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे।

केशवजी मेरे बाल्य सखा थे। ये महात्मा बचपन में बड़े चंचल और बहुरंगी थे, खेल में ही अधिक चित्त देते थे; पर स्मरण-शक्ति उस समय भी बड़ी प्रखर थी। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में यकायक उनमें परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। उनकी प्रवृत्ति विद्याभ्यास की ओर हुई। फिर तो खेलकूद एकदम बंद हो गई। एकांत में बैठकर लघुकौमुदी कंठ करते दिखाई पड़ते। थोड़े ही दिनों में संस्कृत में पद्यरचना करने लगे। मुझे वह बात आज भी नहीं भूलती जब म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री के पुत्र के विद्या-विहीन होने की चर्चा हो रही थी और ये महात्मा अकस्मात् बोल उठे थे—'पुत्रः शिवकुमारस्य सूर्यस्येव शनैश्चरः'। बड़े बूढ़े सभी हँस पड़े। सबने इनकी प्रतिभा की प्रशंसा की। उस समय इनकी अवस्था चौदह-पंद्रह वर्ष से अधिक न थी। पं० देवीदत्त जी वैयाकरण-केसरी तथा पं० योगेश्वर झा जी से इन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया। अंग्रेजी में भी इन्होंने

अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। प्राकृत, पाली तथा विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन किया था।

इनकी विद्या जैसी थी, मैं कहूँगा कि वैसी ख्याति इनकी नहीं हुई। कारण यही था कि इन्होंने कभी अपनी ख्याति के लिये प्रयत्न नहीं किया। बड़े ही नम्र और विनयी थे। शत्रु तो इनका कोई था ही नहीं। इनके चमत्कृत गुणों को देखकर कहना पड़ता है कि इस काल में ऐसे पुरुषरत्न दुर्लभ हैं।

—विजयानंद त्रिपाठी

आदर्श मानव

जो कोई भी व्यक्ति आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के निकट संपर्क में गया होगा वह उनसे प्रभावित हुए बिना न रहा होगा। उनमें कौन-सी विशेषता थी जिसका प्रभाव लोगों पर पड़ता था? सर्वप्रमुख स्थान उनके स्वाध्याय का है जिसके कारण अन्य गुण उनमें स्वतः एकत्र हो गए थे। वे उसी प्रकार तपःस्वाध्याय-निरत रहते थे जैसे एक तपस्वी को होना चाहिए। इन पंक्तियों के लेखक को उसके जीवनकाल में संस्कृत वाङ्मय के सभी विषयों का इतना बड़ा मर्मज्ञ अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

आचार्य की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जिस प्रकार वे कुशल अध्यापक थे उसी प्रकार प्रभावशाली वक्ता और सिद्धहस्त लेखक भी। छात्रावस्था में जब वे सांगवेद विद्यालय (नगवा, काशी) में अध्यापन-कार्य भी किया करते थे तब उसी विद्यालय के वार्षिकोत्सव में उनके संस्कृत भाषण से मुग्ध होकर स्वर्गीय म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री ने सभापति-पद से उनको साधुवाद देते हुए भविष्य-वाणी की थी कि यह व्यक्ति आगे चलकर संस्कृत वाङ्मय का प्रकांड विद्वान् होगा। कुछ ही दिनों बाद उनकी यह वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई—'"न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि'।

संस्कृत व्याकरण का अर्थांश इतना सूक्ष्म है कि जो व्यक्ति उस विषय का अध्ययन-अध्यापन निरंतर किया करता है उसी का उसपर अधिकार रहता है। परंतु आचार्य जी को वह विषय इतना स्पष्ट तथा हृदयंगत था कि जब कभी कोई व्यक्ति किसी भी स्थल पर किसी भी प्रकार की शंका करता तो वे बड़ी सुगमता से उसका निराकरण कर दिया करते थे। व्याकरण की चर्चा तो केवल स्थाली-

पुलाक-न्याय से की गई, यों साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि सभी विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था।

यों तो संसार में सभी विषयों के एक से एक धुरंधर विद्वान् भरे पड़े होंगे, परंतु आचार्य जी की विशेषता यह थी कि वे दुरूहातिदुरूह विषयों को ऐसी शैली में उपस्थित करते थे कि वे विषय अधिकारी के हृदय में सदा के लिये स्थान कर लेते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि—'भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये'। अर्थात् वे पुरुष धन्य हैं जो अपने हृदय के भावों को वाणी द्वारा व्यक्त कर देते हैं।

आचार्य जी को आडंबर में जरा भी रुचि न थी। वे तड़क-भड़क पसंद न करते थे। उनका कहना था—'गुणेषु यत्नः क्रियताम् किमाटोपैः प्रयोजनम्। विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥' अर्थात् मनुष्य को गुणोपार्जन के लिये प्रयत्न करना चाहिए, आडंबर से कोई लाभ नहीं होता। बिना दूध की गाय केवल अलंकृत होने से बेंची नहीं जा सकती। उनका विचार था कि मनुष्य को 'अनुल्वणवासाः' होना चाहिए, अर्थात् सभ्य पुरुष का परिधान ऐसा होना चाहिए कि लोगों की दृष्टि हठात् उसपर आकृष्ट न हो।

श्रद्धेय आचार्य जी जिस प्रकार उच्च कोटि के मनीषी थे उसी प्रकार अति विनीत स्वभाव के भी थे। परंतु उनमें आत्म-सम्मान की कमी न थी। मेरी तो धारणा है कि उन्होंने अर्थ-लाभ की दृष्टि से कभी किसी के सामने अपनी दीनता नहीं प्रकट होने दी। वे प्रायः कहा करते थे कि 'वयं नो ते विप्राः प्रतिदिवसमासाद्य कृपणात्। धनं ये याचन्ते परिगणितनक्षत्रतिथयः ॥' अर्थात् मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ जो धनिकों के पास जाकर तिथि-नक्षत्र बतलाकर द्रव्य माँगा करते हैं। उनका विचार था कि ब्राह्मण की मानहानि को उसका वध ही समझना चाहिए—'आज्ञा-भङ्गो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम्। पृथक् शय्या कुलस्त्रीणामशस्त्रविहितो वधः ॥' अर्थात् राजाज्ञा की अवज्ञा, ब्राह्मणों की मानहानि तथा कुलांगनाओं का गृह के बाहर वास बिना शस्त्र का वध है। अतः ब्राह्मण को अपनी मान-मर्यादा की रक्षा का सतत ध्यान रखना चाहिए।

जब वे सेंट्रल हिंदू स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे तब वहाँ का अधिकारि-वर्ग उनकी योग्यता तथा कार्यकुशलता से प्रभावित होकर उनकी पद-वृद्धि का

विचार करने लगा। उस अवसर पर आचार्य जी के एक सहयोगी को बड़ी चिंता हुई कि इनके कारण मेरी उन्नति में बाधा पड़ जायगी। अतः अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने इसका विरोध करना प्रारंभ किया। इसकी सूचना आचार्य जी को भी मिली। उस समय वे सज्जन वहाँ उपस्थित थे। आचार्य जी ने बड़ी गंभीर मुद्रा में कहा—

अस्मिन्नम्भोदवृंदध्वनिजनितरुषि प्रेक्षमाणेऽन्तरिक्षम्
मा काक व्याकुली भूस्तरुशिरसि शवक्रव्यलेशानशान।
धत्ते मत्तेभकुम्भव्यतिकरकरजव्यासवज्राग्रजाग्रद्—
ग्रासव्यासक्तमुक्ताधवलितकवलो न स्पृहामत्रसिंहः॥

कोई कौआ वृक्ष की चोटी पर बैठकर शव-मांस का एक टुकड़ा खा रहा था। उस वृक्ष के नीचे एक सिंह विश्राम कर रहा था। इतने में आकाश में मेघगर्जन हुआ। सिंह ने समझा कि दूसरा सिंह गरज रहा है। वह क्रुद्ध होकर ऊपर की ओर देखने लगा। कौआ यह सोचकर कि वह मांस के टुकड़े के लिये ऊपर की ओर देखकर रुष्ट हो रहा है, व्याकुल होने लगा। कौए तथा सिंह की दशा देखकर किसी समझदार व्यक्ति ने कहा कि 'रे मूर्ख कौए, तू व्यर्थ क्यों व्याकुल हो रहा है? यह सिंह तो मत्त गजराज के गंडस्थल को विदीर्ण कर सद्यःप्राप्त गज-मांस का भक्षण करनेवाला है, तेरे मांस के टुकड़े को नहीं चाहता, तू निःशंक भक्षण कर। तात्पर्य यह कि आचार्य जी का चरम लक्ष्य संस्कृत का प्रधानाध्यापक हो जाना नहीं था, प्रत्युत उनका पूर्ण विश्वास था कि 'यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्। न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते॥' उनसे तो काशी विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित होना था, प्रधानाध्यापक-पद के लिये वे क्यों चिंतित होते—यद्यपि उस समय भी उक्त पद उन्हीं को प्राप्त हुआ।

संस्कृत भाषा पर उनका सा अधिकार स्यात् किसी का रहा हो। उनके कानों में अपशब्द अनायास काँटे की तरह चुभ जाते थे। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अशुद्धि भी उन्हें तत्क्षण खटक जाती थी। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री के निधन पर काशी के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि महोदय ने शोकांजलि प्रकाशित की थी। उसके एक पद्य में—लेखक को वह स्मरण नहीं—'दैव' शब्द का प्रयोग पुंलिंग में हो गया था, परंतु अपेक्षित अर्थ में उसे नपुंसक लिंग का होना चाहिए था। जब

आचार्य जी ने उसे पढ़ा तो उन्होंने कहा कि यह अशुद्ध है। इसकी सूचना कवि महोदय को प्राप्त हुई तो पहले बड़े अप्रसन्न हुए और उपेक्षा से कह दिया कि वे क्या अशुद्धि निकाल सकते हैं? परंतु बाद में उनको ज्ञात हुआ कि वास्तव में यह प्रयोग अशुद्ध ही है। तब वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आचार्य जी के निवासस्थान पर आकर उन्हें हार्दिक आशीर्वाद दिया।

इतने गुणों के आकर होते हुए भी आचार्य जी अपनी ख्याति को जीवित रखने में सदैव निश्चेष्ट से रहे। उनका यशःशरीर तो उनकी शिष्य-परंपरा द्वारा चिरस्थायी रहेगा, परंतु खेद है कि अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता को ग्रंथरूप में प्रकाशित करने की ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। संतोष केवल इस बात से होता है कि भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी हुई उनकी सैकड़ों टिप्पणियों की पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं और आशा की जाती है कि कभी न कभी उनका तारतम्य ठीक करके प्रकाशन भी हो जायगा और इससे भी लाभ अवश्य होगा।

—राधारमण

स्वाध्याय एवं सहृदयता की मूर्ति

तप, स्वाध्याय और चिंतन के प्रतिभाधर विग्रह श्री केशवप्रसाद मिश्र की जन्मभूमि काशी है। काशी में भी काशी का वह भाग जिसे शस्त्र और शास्त्र के, प्रतिभा और प्रेरणा के आकर अनेक नरपुंगवों ने अपने आविर्भाव से वीर-विद्वत् परंपरा का एक छोटा-सा तीर्थ बना डाला है। भारत में दुर्मद अँगरेजी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह का प्रथम खड्ग उठानेवाली वीर-शिरोमणि महारानी लक्ष्मीबाई भी भद्रवनी (भदैनी) के उसी मुहल्ले में उत्पन्न होकर उसका गौरव बढ़ा गई हैं। देश के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जिस ठाँव बैठकर रामचरितमानस की रचना की, उसी पुण्य ऐतिहासिक पड़ोस में संवत् १६४२ विक्रमाब्द की मधु कृष्णा सप्तमी को केशव जी ने जीवन में पहला चरण रखा। इनके पूर्वज इस मुहल्ले के बहुत प्राचीन निवासी थे। वे गोस्वामी जी से भी कुछ पूर्व अथवा उसके आसपास यहाँ आ चुके थे, क्योंकि तुलसीदास जी के मित्र टोडर के प्रसिद्ध पंचनामे पर, जिसपर महाकवि के हस्ताक्षर हैं, इनके पूर्वजों के भी नाम हैं। इनके पूर्वजों का आदि स्थान बस्ती जिलांतर्गत धर्मपुरा है। वहाँ से वे पहली बार भदैनी में आकर उस जगह बसे जहाँ पंपिंग स्टेशन है। जब वह भूमि वाटरवर्क्स

की सरकारी योजना में चली गई तब लाचार होकर परिवार-समेत वहाँ चले आए जहाँ आजकल उनका घर है।

केशव जी के पिता का नाम श्री भगवतीप्रसाद मिश्र था। वे काशी के एक अच्छे वैद्य थे। केशव जी के जीवन के आरंभिक चौदह वर्ष खेलकूद में बीते। कहा जाता है बचपन में उनकी पतंग उड़ाने में बड़ी अभिरुचि थी। इसके लिये उन्हें अनेक बार डाँट-फटकार भी सुननी पड़ती थी। चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने पढ़ना आरंभ किया। संस्कृत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के विद्वान् पं० यागेश्वर झा ने उन्हें व्याकरण का ठोस आरंभिक अध्ययन कराया। उसके बाद क्रम से जय-नारायण स्कूल और राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वींस कालेज) में शिक्षा प्राप्त की। घर की आर्थिक स्थिति पुष्ट न होने के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त करने से कुछ पूर्व ही जीवोपाय के अर्थ उन्हें नौकरी करनी पड़ी। घर के अध्ययन के सहारे उन्होंने इंटरमीडियट बोर्ड से आइ० ए० की परीक्षा पास की। वेदांत, साहित्य, दर्शन आदि विविध विषयों का अध्ययन जिन आचार्यों के सन्निकाश में किया उनमें श्रीमाधवाचार्य, श्री रामशास्त्री, महामहोपाध्याय श्री गंगाधरशास्त्री, तथा श्री दामोदरलाल गोस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्हें ज्ञान की, विद्या की, भूख थी। जहाँ भी ज्ञानोपलब्धि का अवसर दिखाई पड़ता, वहीं वे पहुँच जाते। स्वयं बिना किसी गुरु के सहारे उन्होंने बँगला, गुजराती, पाली, फारसी, जर्मन, ग्रीक, फ्रेंच तथा लैटिन आदि भाषाओं का भी अध्ययन किया।

अध्यापन-कार्य का श्रीगणेश केशव जी ने काशी-विद्यापीठ के प्रथम संस्कृत अध्यापक अपने गुरु श्री यागेश्वर झा की 'बाल-पाठशाला' में किया। उसके अनंतर कुछ दिन तक श्री शिवकुमार सांगवेद विद्यालय (न्यावा) में व्याकरण पढ़ाते रहे। सन् १९१४ से १९१६ तक ये इटावा सनातन-धर्म हाई स्कूल में अध्यापन-कार्य करते रहे। उसके बाद स्थानीय सेंट्रल हिंदू स्कूल में आए, जहाँ बड़ी ही योग्यतापूर्वक इन्होंने लगातार १२ वर्ष २१ दिन तक अध्यापन किया। इनकी अध्यापन-शैली की प्रशंसा महामना मालवीय जी के कानों तक पहुँची और उन्होंने सन् १९२८ में इन्हें विश्वविद्यालय की सेवा करने के लिये बुला लिया। ये हिंदी-विभाग में प्राध्यापक-पद पर नियुक्त हुए और १९४१ तक उक्त पद की शोभा बढ़ाते रहे। इनके पढ़ाने का ढंग अत्यंत सुंदर था। विद्यार्थी इनकी पढ़ाई से सदा प्रसन्न और परितृप्त रहते। अध्यापन-कला की एक ऊँची

परंपरा केशव जी छोड़ गए हैं। वे आदर्श अध्यापक थे—वैसे ही, जैसे वे निष्णात विद्वान् थे। सन् १९४१ से १९५० तक वे हिंदी-विभाग के अध्यक्ष रहे। डा० श्यामसुंदरदास जी ने अपने जीवनचरित में पंडित जी के ज्ञान-गांभीर्य और शील की प्रशंसा की है। वे विश्वविद्यालय की कोर्ट, सिनेट, सिंडिकेट आदि विभिन्न सभाओं के सदस्य तथा फैकल्टी ऑव आर्ट्स के डीन भी थे। काशी विश्व-विद्यालय ने उन्हें डाक्टर की सम्मानित उपाधि देकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय भी दिया; पर हंत! अस्वस्थता ने उन्हें उपाधि-वितरण-उत्सव में जाने से वंचित रखा और विश्वविद्यालय की वह डिग्री कागज पर ही धरी रह गई! तब तक पंडित जी गंगाधर-धाम पहुँच गए!

पंडित जी प्रचार तथा आत्म-विज्ञापन से बहुत दूर रहते थे। यही कारण है कि उनकी सेवाओं से समाज उतना परिचित नहीं है जितना होना चाहिए। नाम और यश की लिप्सा से वे कभी ग्रसित न हुए। उन्होंने साहित्य की नीरव साधना की। भाषाशास्त्र के गिने-चुने विद्वानों में उनकी गणना की जा सकती है। शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में उनकी सूझ बड़ी निर्विकल्प थी।

सन् १९२३ में उन्होंने कालिदास के मेघदूत का पद्यबद्ध अनुवाद किया, जो साहित्य में अनूठा है। ऐसा अनुवाद उस कृति का अब तक नहीं हुआ है। उसकी भूमिका में रस-सिद्धांत की जो एक स्थापना 'मधुमती-भूमिका' नाम से की गई है वह साहित्यशास्त्र की स्थापनाओं के इतिहास में एक बड़ी घटना मानी जाती है। उनके 'उच्चारण' तथा '?' (प्रश्न-चिह्न) नामक निबंध साहित्य की मूल्यवान् निधियाँ हैं। उनके सफल निबंधकार होने के वे प्रमाण हैं। 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', जिल्द ५९ सन् १९३० में 'डाक्टर कीथ ऑन अपभ्रंश' नामक लेख भी इस प्रसंग में उल्लेख के योग्य है। उनकी एक पुस्तक है 'हिंदी वैद्युत शब्दावली'। यह एक अँगरेजी-हिंदी कोश है। वैद्युत शब्दावली का प्रकाशन १९२५ ई० में हुआ था। पंडित जी की हिंदी-सेवा तो अनुकरण की वस्तु रही। शिष्योपशिष्यों की परंपरा की उत्तरोत्तर संवर्द्धमान एक लड़ी वे छोड़ गए हैं। उसमें ज्ञान और प्रज्ञा के अगणित प्रसून खिलते जायँगे। वे विद्या-वितरण के विनिर्मुक्त केंद्र थे—स्वयं एक संस्था। उनका घर भगवती वीणापाणि का एक साधनालय था। उन्होंने बड़े बड़े ग्रंथों और पाठ्य पुस्तकों के दोनों छोरों पर अर्थ-स्थापना संबंधी जो नोट लिखे हैं वे सिद्धांत और अर्थोन्मेष के परमोपयोगी

सूत्र हैं। उनके आधार पर विमर्श और अर्थप्रबोध के प्रामाणिक ग्रंथ प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

केशव जी का भाषण साहित्य-माधुर्य का अखंड प्रवाह, प्रांजलता और प्रसादपूर्ण ओज का स्वच्छ निर्झर, होता था। वे अत्यंत तन्मय होकर विषय से एकरस होकर बोलते थे। विचारों के वैभव से पूर्ण उनकी वाणी से (वक्तृता में) काव्य की सरसता झरती थी। वे साहित्य बोलते थे। उनका हृदय बड़ा विमल था। राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा से कोसों दूर रहते। निंदा-कुत्सा से योजनों दूर। रहन-सहन सीधा-सादा था। मन, वाणी, भाषा और वेष "मनसा धवलम्, वचसा धवलम्, वपुषा धवलम्" के अनुसार नितांत स्वच्छ और उज्ज्वल। श्वेत खादी का कुरता तथा देशी सिल्क का दुपट्टा धारण करते थे। कभी-कभी बंद गले का कोट भी। सहज हास से भरा सौम्य और शांत मुखमंडल, जिसपर उद्वेग की रेखाएँ कभी खिंच ही न पाईं। आत्मविश्वास, शील और सुसंस्कृत अभिरुचि के वे एक आदर्श नागरिक थे। संगीत और कला से बड़ा प्रेम था। पक्षियों में लाल और कबूतर जिलाने, उन्हें खिलाने-पिलाने में, उनके चहकने और कूजने में बड़ा रस लेते थे। कविताएं उन्होंने थोड़ी ही की हैं। 'सरस्वती' तथा 'इंदु' में बहुत पहले छप चुकी हैं। 'दरिद्र विद्यार्थी' तथा 'शिवा जी का उत्तर' शीर्षक रचनाएँ भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ी प्रभावशालिनी हैं। मुगल सुंदरी को कुछ क्षण तक एक-टक निहारने पर जब महाराज छत्रपति शिवा जी को उस सुंदरी ने ताना दिया कि आप जैसे युग-शूर को यह शोभा नहीं देता, तो महाराज ने जो उत्तर दिया उसे केशव जी के ही शब्दों में सुनिए—

> "कहीं आप सी मेरी माता होतीं यदि शोभा की धाम
> तो मैं होता नहीं वीर ही, किंतु रूप में भी अभिराम।"
> सुनकर इस उदार उत्तर को राजनंदिनी उठी पुकार,
> "धन्य धन्य हो! धन्य शिवाजी! धन्यवाद है बारंबार॥"

सरस्वती की शक्ति के दो रूप हैं—एक कवि, दूसरा सहृदय। पंडित जी सहृदय की एक मूर्तिमती परिभाषा थे। अभिनवगुप्त ने ऐसे ही विद्वान् सहृदयों की ओर इस पंक्ति में संकेत किया है—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरेऽवर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"

उनकी उस सहृदयता का परिचय तथा रसास्वादन का लाभ जिन्हें हुआ है वे आज भी उसकी मीठी स्मृति से पुलकित हो उठते हैं। महामना एवं शुक्ल जी आदि के संस्मरण इनकी लेखन-शैली की विशिष्टता के द्योतक हैं। श्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी पर लिखा गया लेख भी अपूर्व है।

पंडित जी के बंधुओं और मित्रों की गणना उँगलियों पर की जा सकती है। पाँच भाइयों में ये ज्येष्ठ थे। पहले के घनिष्ठ मित्रों में श्री श्यामबिहारी भटेले, तदनंतर श्रीराधाकांत जी और पंडित रामदहिन मिश्र के नाम उल्लेख योग्य हैं। स्वर्गीय श्री जयशंकरप्रसाद, श्री रामचंद्र शुक्ल और बाबू राधेकृष्णदास से तथा श्री राय कृष्णदास, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री श्रीनिवास जी, और डाक्टर धीरेंद्र वर्मा से बड़ी मित्रता थी। नागरीप्रचारिणी पत्रिका के विद्वान् संपादक-मंडल के पंडित जी प्रमुख सदस्य रहे।

पंडित जी का विवाह संवत् १९६३ ई० में हुआ था। उस समय उनकी आयु उन्नीस वर्ष की थी। उनके एक ही पुत्र हैं श्री महावीरप्रसाद मिश्र। उन्होंने पिता की भक्ति में कई हजार पुस्तकों का उनका भांडार 'श्री केशव-स्वाध्याय-मंदिर' को दान दिया है। पुस्तकालय और स्वाध्याय-मंदिर के लिये पीछे की सारी भूमि भी दे दी है। साहित्यिक साधना के नाम पर चिंतन की प्रेरणा और स्वाध्याय की सामग्री अनुशीलन करनेवालों को मिलती रहे और काशी में लोकप्रिय विद्वद्-गुरु-परंपरा सदा की भाँति प्रतिष्ठित रहे, यही उनके जीवन का लक्ष्य और संदेश है। ऐसा ही जीवन उन्होंने आचरित किया। स्वाध्याय के वे दृढ़व्रती थे। शिष्टता और मर्यादा के प्रतीक थे। उनकी महत्ता यह है कि उन्होंने अनेक साहित्यकार बनाए, अनेक विद्वानों और कवियों को प्रेरणा के सूत्र दिए। एक ऐसी परपरा की सृष्टि की जिसकी छाया में अहरहः अप्रबुद्ध हृदयों के क्षितिज पर ज्ञान का अरुणोदय होगा। उनका सारा जीवन रोग और पारिवारिक विपन्नताओं से संघर्ष में ही बीत गया। जब उनपर विजय पाई, अब इस योग्य हुए कि अपने विचार-वैभव का कोष लुटा सकें, तब भगवान के घर उनकी आवश्यकता बढ़ गई। उनकी अधिकांश मंगलमयी विचार-विभूतियाँ उनकी भौतिक चेतना के संग-संग भूतभावन में निलीन हो गईं।

—राजेंद्रनारायण शर्मा

भारती के अनन्य साधक

आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र भारती के अनन्य 'साधक', परिपक्व 'सिद्ध' और सम्मानित 'सुजान' थे। हिंदी का आधुनिक युग उनके कृतित्व से पुष्ट और समृद्ध हुआ है। आचार्य के उस कृतित्व का विचार करने के लिये कई बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं। वे साहित्य-सेवा को साधना मानते थे। इसी से साथियों और शिष्यों के साथ अभेद-भाव से भाषा और साहित्य की सेवा में लीन रहते थे। कोश, व्याकरण, इतिहास, आलोचना और साहित्य सभी के निर्माण में पंडित जी का सहयोग विद्यमान है। उस युग के धुरंधर बाबू श्यामसुंदर दास, पंडित रामचंद्र शुक्ल महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, महाकवि जयशंकर प्रसाद, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० कामताप्रसाद गुरु आदि केशव जी के इस 'योग' का बहुत मान करते थे।

पंडित जी जिस प्रकार मौन सेवा में आनंद लेते थे, उसी प्रकार उन्हें अपने संबंध में भी मौन रहना अच्छा लगता था। दो बार ऐसे अवसर आए जब उनसे आग्रह किया गया कि वे अपना परिचय प्रकाशित हो जाने दें, पर उन्होंने दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। साथियों से कहा कि सेवक का सच्चा परिचय दो ही ढंग से मिलता है—एक तो उस परंपरा द्वारा जिसे वह अपने उत्तराधिकारियों को दे जाता है, और दूसरे उसकी उन सरल कृतियों द्वारा जो उसकी शुद्ध और प्रबुद्ध भूमिका का फल होती हैं।

लिखने के संबंध में पंडित जी ने 'सत्याय मितभाषिणाम्' तथा 'आपरितोषाद् विदुषाम्' इन दो सूत्रों को अपनाया था। उनका मत था कि सत्य को व्यक्त करना हो तो कम लिखना चाहिए और जो लिखा जाय वह ऐसा होना चाहिए कि उससे विद्वानों का परितोष हो। इसी से उन्होंने लिखा तो बहुत कम, पर जो लिखा वह हिंदी की निधि बन गया।

हिंदी शब्दसागर का संपादन—हिंदी शब्दसागर काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ऐतिहासिक कृति है। उसमें आचार्य के मौन सहयोग का विश्लेषण न कर केवल प्रकट और प्रत्यक्ष को देखा जाय तो भी उनका कृतित्व स्पष्ट हो जाता है। बड़े शब्दसागर के दूसरे संस्करण में व्युत्पत्ति-भाग का संशोधन-कार्य उन्हें सौंपा गया था। मुझे भी सभा की ओर से इस कार्य मे गुरु जी का साथ देने का आदेश

मिला था। उन्होंने दो जिल्दों पर कुछ टिप्पणियाँ की थीं और कुछ विचार और कुछ सुझाव सभा को लिख भेजे थे। उदाहरण के लिये केवल दो शब्दों पर लिखी हुई टिप्पणियाँ यहाँ दी जाती हैं—

(१) 'अहिवात' (पृ० २०२) पर कोष्ठक में व्युत्पत्ति लिखी है—(सं० अभिवाद्य प्रा० अहिवाद)। पंडित जी ने काटकर लिखा है 'अविधवात्व'। पंडित जी ने अर्थविचार और ध्वनिविचार दोनों की परंपरा दिखाकर इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया था। कालिदास में 'अविधवा' शब्द का विध्यात्मक अर्थ है, निषेधात्मक नहीं। और वह मंगलवाचक अर्थ आज भी हिंदी के इस तद्भव शब्द में जीवित है।

(२) 'साध' (पृ० ३५०६) की व्युत्पत्ति लिखी हुई है 'उत्साह'। पंडित जी ने काटकर लिखा है 'श्रद्धा'। उन्होंने इस शब्द का भी मनोरंजक भाषा-वैज्ञानिक इतिहास सुनाया था। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, दो दिन इसी एक शब्द के चिंतन में बीते थे। प्राचीन काल में श्रद्धा के कई अर्थ होते थे—(१) गर्भिणी की इच्छा, (२) आत्मा की इच्छा, इत्यादि। आज देशभाषाओं में भी वह अर्थ-परंपरा जीवित है। इसी लिये पंडित जी कहा करते थे कि हिंदी का कोश पूर्ण तब होगा जब अन्य प्रांतीय भाषाओं की परस्पर तुलना वाली प्रक्रिया अपनाई जाय।

कुछ शब्दों पर पंडित जी ने दूसरे प्रकार की टिप्पणियाँ दी हैं। कहीं प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है और कहीं पुनर्परीक्षण करने के लिये संकेत बना दिया है। इन टिप्पणियों से हिंदी शब्दसागर के संशोधन में लाभ उठाया जा सकता है। संक्षेप में पंडित जी ने कुछ बातें स्थिर की थीं। यथा—उनका पहला सूत्र था 'अर्थं नित्यं परीक्षेत'। पहले अर्थ स्थिर होने पर ही शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित की जा सकती है, अतः शब्दसागर में दिए हुए अर्थों का पुनर्परीक्षण होना चाहिए। इसके लिये भी पहले एक सर्वांगपूर्ण हिंदी पुस्तकालय का होना अत्यावश्यक है। दूसरी आवश्यक बात वे यह समझते थे कि प्रत्येक शब्द के साथ उसकी विभाषा (ब्रज, अवधी, खड़ी, राजस्थानी) का नाम अंकित होना चाहिए। इसी प्रकार, जो शब्द साहित्य से नहीं लिए गए (यथा पारिभाषिक और व्यावहारिक शब्द) उनपर विशेष टिप्पणी चाहिए। इत्यादि। उनका निश्चित मत था कि इस पद्धति से सभा में एक स्वतंत्र कोश-विभाग नित्य कार्य करता रहे, तभी राष्ट्रभाषा का यह शब्द-सागर-मंथन संभव होगा।

पदावली का निर्माण—पंडित जी ने शब्दों की व्युत्पत्ति खोजने में जिस प्रकार मनोयोग से काम किया उसी प्रकार शब्दावली के निर्माण में भी पथप्रदर्शक का कार्य किया। इस कार्य द्वारा वे सदा साहित्यिकों तथा संस्थाओं की सहायता किया करते थे। सन् १९२५ में उन्होंने हिंदी वैद्युत शब्दावली प्रस्तुत की थी, जो उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है। अब तो सभी लोग वैज्ञानिक पदावली का महत्त्व समझ रहे हैं। इस शब्दावली की भूमिका में पंडित जी ने 'नामकरण' तथा शब्दनिर्माण पर भी विचार प्रकट किए हैं। उनका यह काम जीवन भर चलता और आगे बढ़ता गया। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत पदावली में उनका उल्लेखनीय योग रहा। सामान्य व्यवहार की पदावली में भी पंडित जी का इतिहास अंकित है। यथा, प्रायः सूचनाओं में छपता था 'आप की उपस्थिति प्रार्थनीय है'। पंडित जी ने इसे सुधार कर 'प्रार्थित' शब्द चलाया। ऐसे शब्दों के तो वे आकर माने जाते थे। स्वर्गीय जायसवाल जी कहा करते थे कि केशव जी 'जंगम शब्द-सागर' हैं।

पंडित जी का सबसे अधिक महत्त्व दिखाई पड़ता है उनकी उस पदावली में, जो हिंदी को साहित्यालोचन और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मिली। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास के साथ इन क्षेत्रों में काम किया था, अतः उसे ज्ञात है कि उस आरंभिक युग में पारिभाषिक पदावली का निर्माण आचार्य केशव जी की सहायता से हुआ था। एक एक शब्द के लिये पंडित जी अनेक ग्रंथ देखते और अनेक दिन लगा देते। यों तो स्वाध्याय और शब्द-निर्माण उनका नित्य का कर्म था, पर अपने इस शिष्य की सहायता करने के लिये वे चौबीस घंटे प्रस्तुत रहते थे।

पंडित जी का सिद्धांत था कि जो पारिभाषिक शब्द विदेशी भाषा से हिंदी में अनुवाद द्वारा लिया जाय उसकी पूरी अर्थपरंपरा पहले अच्छी तरह समझ ली जाय और जो हिंदी प्रतिशब्द स्थिर किया जाय उसकी भी परंपरा के निर्वाह का पूरा ध्यान रखा जाय, जिससे अपनी भाषा और भाव-संस्कृति की हानि न हो। उदाहरण के लिये, 'अलौकिक' और 'पारलौकिक' शब्द हिंदी में एक ही अर्थ देने लगे थे, पर पंडित जी ने इनपर बहुत विचार करके स्थिर किया कि अलौकिक का अर्थ है 'इंद्रिय-लोक से परे' और 'पारलौकिक' का अर्थ है 'दूसरे लोक से संबंध रखनेवाला'। इसी लिये साहित्यालोचन में 'सुपर-सेंसुअस' (Super-

sensuous) का अनुवाद किया गया 'अलौकिक', और 'सुपर-नेचुरल' (Super-natural) का अनुवाद हुआ 'पारलौकिक'। इसी प्रकार रस, संवेदन, साधारणी करण, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि शब्दों के अनुवाद में पंडित जी ने बहुत मंथन किया। वे कहते थे कि ये हमारी सांस्कृतिक परंपरा के भंडार हैं। इनका अज्ञान अथवा अपरिचय दुहरी हानि करता है गलत अनुवाद करके एक ओर हम अपनी भाषा का अर्थ-गांभीर्य कम कर देते हैं और दूसरी ओर हम पश्चिम की ज्ञान-निधि को समझने में कच्चे सिद्ध होते हैं।

इतिहास—बाबू श्यामसुंदर दास जी हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर रहे थे। उस समय पंडित जी जिस मनोयोग के साथ इतिहास का अध्ययन और विवेचन करके उनकी सहायता करते थे उसका उल्लेख स्वयं लेखक ने किया है। आचार्य शुक्ल जी के इतिहास को केशव जी ने सहृदय और मर्मज्ञ की भाँति ध्यान से परखा था। जब मैं बाबू साहब के साथ हिंदी भाषा और साहित्य का संशोधन और परिवर्धन करने में दत्तचित्त था तब केशव जी ने कहा कि शुक्ल जी की जीवन-दृष्टि प्रत्यक्षवादी है। इसी का फल था कि बाबू श्यामसुंदरदास के इतिहास तथा साहित्यालोचन में परोक्षवादी और आध्यात्मिक दृष्टि को प्रधानता मिली। इसी दृष्टि के कारण आचार्य शुक्ल जी के विचारों से भिन्न विचार इस इतिहास में मिलते हैं—विशेष कर कला, रस, रहस्य और प्रकृति के संबंध में। आचार्य केशव जी का कहना यह था कि मानव-जीवन में यदि शरीर का ठोस अस्तित्व है तो आत्मा की सत्ता उससे भी अधिक महत्त्व की है। अतः साहित्य में मानस की भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का स्थान और मान होना चाहिए।

नागरीप्रचारिणी सभा ने जब आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास लिखवाने की योजना आचार्य केशव जी के सामने रखी तो वे बहुत प्रसन्न हुए कि इसी बहाने मैं अपने 'सत्परामर्श' द्वारा हिंदी की सेवा कर सकूँगा। उनसे परामर्श, संपादन और भूमिका-लेखन की प्रार्थना की गई थी। 'सत्परामर्श' शब्द द्वारा उन्होंने सब कुछ कह दिया था। परामर्श देने में उन्हें युग-निर्माण का आनंद आता था और लेखकजन परामर्श में ही उनसे सार ग्रहण कर लिया करते थे।

भारतीय इतिहास-परिषद् की ओर से जब सर यदुनाथ सरकार के संपादकत्व में इतिहास लिखा जा रहा था उस समय भी पंडित जी के परामर्श का सुफल मैंने देखा था। अंग्रेजी भाषा में अंकित करके सुयोग्य लेखक

होने का यश तो उनके इस शिष्य को ही मिला था, पर उसमें दृष्टि और शक्ति किसी आचार्य की छिपी हुई थी। उस ग्रंथ में केवल एक खंड 'अकबर युग में हिंदी साहित्य' नाम का लिखा गया था। जिन मर्मज्ञों ने उसे पढ़ा उन्होंने कहा कि इसी ढंग पर पूरे हिंदी साहित्य का इतिहास अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत होना चाहिए। यह भी आचार्य केशव जी की एक कामना थी। थोड़े में कहें तो पंडित जी ने इस क्षेत्र में भी अपने स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित करने का यत्न किया। पश्चिमी आलोचक भक्ति और रीति की कविता को ठीक नहीं समझ सके थे। पंडित जी चाहते थे कि इनका स्वतंत्र आलोचन हो। इसी प्रकार रहस्यवाद के प्रति भी पंडित जी का विशेष झुकाव था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि वे उत्तरोत्तर बढ़नेवाले आधुनिक साहित्य के प्रति बहुत अधिक सहृदय थे।

व्याकरण—व्याकरण उनका सबसे अधिक प्रिय विषय था। संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, हिंदी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के व्याकरणों का अध्ययन-अध्यापन उनके स्वाध्याय का अंग था। नीरस व्याकरण का अध्ययन उन्हें प्रिय था। इसी प्रेम ने उन्हें भाषाविज्ञान की ओर प्रवृत्त किया और उनकी स्वाभाविक सरसता ने ऐसे कठिन विषय को भी विद्यार्थियों के लिये सरल और सरस बना दिया। वे व्याकरण के निर्माण में योग देने का बराबर प्रयत्न करते रहे। संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ तो वे पहले से ही माने जाते थे, पिछले दिनों में हिंदी भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में भी वे प्रमाण पुरुष माने जाते थे। पं० कामता-प्रसाद गुरु का व्याकरण बनने के समय पंडित जी केवल सुझाव और आलोचना से तृप्त हो जाते थे। पढ़ाते समय कहा करते थे कि उस व्याकरण पर अंग्रेजी और मराठी व्याकरणों का प्रभाव अधिक है, हम लोगों को हिंदी का स्वतंत्र व्याकरण बनाना चाहिए। उन्होंने विद्यार्थियों से व्याकरण-विषयक अनेक प्रबंध लिखाए जिनसे उनकी चिंतनधारा का परिचय मिल सकता है। वे चाहते थे कि हिंदी के स्वाभाविक और स्वतंत्र विकास को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक दृष्टि से सामग्री का संचयन किया जाय, न संस्कृत व्याकरण उसपर लादा जाय और न अंग्रेजी। पंडित जी के प्रति एक श्रद्धांजलि होगी हिंदी का अभिनव व्याकरण प्रस्तुत करना।

आलोचना की दृष्टि—केशव जी ने आलोचना पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, तो भी इस क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उन्होंने कुछ भूमिकाओं, भाषणों तथा निबंधों द्वारा ही अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। छायावाद, रसवाद,

प्रातिभ ज्ञान आदि पर उनका मत किसी से छिपा नहीं है। उन्होंने छायावाद का अर्थ किया था सौंदर्यवाद की शाश्वत प्रवृत्ति। रसवाद समझाने के लिये उन्होंने मधुमती भूमिका की स्थापना की थी। इसी प्रकार रहस्यवाद और प्रकृति संबंधी विचार भी बीच बीच में स्पष्ट हो गए हैं। पूरी विचारधारा सामने आने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य केशव जी ने दो भिन्न छोरों पर बैठकर काम किया, तो भी उनका समन्वय सफल हो गया। रस के क्षेत्र में वे अभिनवगुप्ताचार्य की परंपरा का पुनर्जागरण करना चाहते थे। वे आचार्य शुक्ल जी के रसमीमांसा वाले सिद्धांत से व्यापक दृष्टि से सहमत नहीं थे। इसी लिये उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि रस का मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान नहीं (द्रष्ट० 'आदर्श और यथार्थ', भूमिका)। इस प्रकार रस का शुद्ध परंपरावादी दृष्टिकोण अपनाकर भी वे आधुनिक युग के इहलोकप्रधान छायावादी साहित्य का भी मान करते थे। संक्षेप में उनका मत यह था कि साहित्य के नाम-रूप अनंत होते हैं, अतः अलौकिक और आध्यात्मिक साहित्य के साथ ही लौकिक और युगानुरूप साहित्य का पूरा महत्त्व मानना चाहिए। इसी कारण पंडित जी ने हिंदी के क्षेत्र में दोनों ओर से आदर पाया। प्राचीन परंपरावादी उन्हें शुद्ध आनंदवादी मानते थे और नवीन छायावादी उन्हें अपना श्रेष्ठ आचार्य। उनका विश्वास था कि शुद्ध रूप में प्रत्येक वस्तु साहित्य में कल्याणकर होती है। सहृदय को शुद्ध हृदय से उस शुद्ध कल्याणांश को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी लिये जीवन भर उन्होंने 'सहृदय' शब्द का महत्त्व समझाया और स्वयं भी ऐसा सहृदयता का जीवन बिताया कि उनकी दो पंक्तियों ने भी इस युग के लेखकों और विचारकों को प्रभावित किया। आज यदि पूर्व और पश्चिम—प्राचीन और नवीन—की मिली हुई परंपरा और उत्तरोत्तर बढ़नेवाली प्रगति का समन्वय करना हो तो पंडित जी का आलोक हमें सदा मार्ग दिखाएगा।

पंडित जी की चिरपोषित इच्छाओं में एक यह भी थी कि साहित्य का एक शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जाय। उनका स्थिर मत था कि रस का दृष्टिकोण इतना शुद्ध और व्यापक है कि उसके द्वारा साहित्य के विषय में सभी भ्रमों का निराकरण और सभी वादों का समन्वय किया जा सकता है। पंडित जी के बिखरे लेखों के आधार पर साहित्यालोचन की एक व्यवस्थित भूमिका प्रस्तुत की जा सकती है।

कामायनी की व्याख्या—सभी जानकार जानते हैं कि कामायनी की व्याख्या को दृढ़ भूमिका पर रखने का श्रेय केशव जी को है। प्रसाद ने कामायनी को लिखा था, पर उसे पढ़ाया और लोकप्रिय बनाया आचार्य केशव जी ने। साहित्य की व्याख्या के संबंध में पंडित जी के कुछ सुनिश्चित मत थे। वे कहा करते थे कि चाहे रस-पद्धति से चला जाय अथवा आधुनिक व्याख्यात्मक आलोचना के मार्ग से, पर मर्म व्याख्या का एक ही है। वह है सहृदय की निर्दोष दृष्टि। जिस दृष्टि से कवि ने लिखा है उसी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयास करना चाहिए। उनका मत था कि साहित्यकार की संस्कृति और श्रुत का ज्ञान भी व्याख्या में सहायता करता है। वे यह भी कहा करते थे कि काव्य समग्र और जटिल जीवन की अखंड और सरल अभिव्यक्ति है; अतः प्रत्येक सहृदय को उसमें अपना अर्थ निकालने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

कामायनी पढ़ाने के प्रसंग में केशव जी ने पुस्तक पर ही प्रारंभ में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का संक्षेप लिख दिया है और कुछ स्थलों पर टिप्पणियाँ भी दी हैं जिनसे प्रसाद की दृष्टि को समझने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। आचार्य की इन टिप्पणियों के अनुसार कामायनी की एक व्याख्या प्रस्तुत करना हम लोगों का काम है। इस व्याख्या से अनेक लाभ हो सकते हैं—छायावादी साहित्य की व्याख्या-पद्धति में स्थिरता, जन-जीवन से 'कामायनी' का संपर्क, 'कामायनी' के मूल्यांकन में स्पष्टता आदि। पंडित जी की व्याख्या में श्रुत और अभ्यास की गरिमा के साथ यह विशेषता रहती थी कि वे 'कामायनी' को एक ही साथ आख्यान और प्रतीक दोनों मानते थे। वे वाच्य और व्यंग्य के इस अखंड संबंध को स्पष्ट करने के लिये स्वाध्याय-गोष्ठी में एक अंग्रेजी वाक्य का प्रयोग किया करते थे—'It is legend and symbol both', अर्थात् 'कामायनी' आख्यान और प्रतीक दोनों है।

रामचरितमानस की नई व्याख्या—इस युग के विद्वान् रामचरितमानस को चरितप्रधान काव्य मानकर उसका आलोचन कर रहे थे। आचार्य केशव जी ने नई दृष्टि सामने रक्खी और अपने निबंध ('रामचरितमानस के सिद्धांत, साधन और साध्य') में यह सिद्ध किया कि 'गोस्वामी जी का रामचरितमानस भक्ति-प्रधान ग्रंथ है, चरितप्रधान नहीं'। इसी प्रकार उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि 'रामचरितमानस के कथन-श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है', न कि लोकसंग्रह। आज के अनेक अध्ययनशील व्यक्ति पंडित जी की इन बातों को

पर्याप्त महत्त्व देने लगे हैं। पंडित जी यह भी कहा करते थे कि 'मानस का अध्ययन भाषाविज्ञान की दृष्टि से पहले होना चाहिए, तभी व्याख्या स्वस्थ और सुलझी हुई होगी'।

उच्च कोटि का निबंध साहित्य—पंडित जी ने निबंध तो थोड़े ही लिखे हैं, पर हैं वे बहुत ऊँची कोटि के। कुछ निबंध व्यक्तिप्रधान निबंध के सभी गुणों से पूर्ण और कुछ विषयप्रधान साहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं तथा कुछ निबंध संस्मरण के सफल चित्र उपस्थित करते हैं। पहले प्रकार के उदाहरण हैं 'उच्चारण' और '?' शीर्षक निबंध। दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं 'मानस के सिद्धांत, साधन और साध्य' और 'मधुमती भूमिका और रसास्वाद'। तीसरे प्रकार के उदाहरण हैं 'कर्ता प्रसाद', 'द्विवेदी जी का आचार्यत्व' और 'आचार्य शुक्ल जी की स्मृति में'। इस प्रकार के संस्मरण लिखने में पंडित जी बहुत कुशल थे। उन्होंने पंडित शिवकुमार शास्त्री तथा महामना मालवीय जी पर भी संस्मरण लिखे हैं। इन संस्मरणों से उनकी विदग्धता का पूरा परिचय मिलता है। इन लेखों में केवल संस्मरणीय का ही चित्र नहीं मिलता, संस्मरणकर्ता का भी व्यक्तित्व स्पष्ट सामने आ जाता है।

पंडित जी के निबंधों का आलोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें विस्तृत जानकारी, शिष्ट और सौम्य शैली, साहित्यिक भाषा, व्यंग और विनोद, व्यक्तिगत पुट तथा प्रभाव का स्थायित्व आदि शुद्ध निबंध के सभी गुण मिलते हैं।

द्विवेदी-युग के निबंध-लेखकों में हमें दो ही व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जिन्हें हम विद्वत्ता और रसिकता की समन्वय-मूर्ति कह सकते हैं—एक पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी और दूसरे आचार्य केशवप्रसाद मिश्र। इन दोनों ही लेखकों के निबंध हिंदी की अक्षय निधि हैं।

पंडित जी की भूमिकाएँ—निबंधों के अतिरिक्त पंडित जी ने कई ग्रंथों की भूमिकाएँ भी लिखी हैं और उनके द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों और विचारकों को स्फूर्ति दी है। यद्यपि उन्होंने उन्हें सूत्र रूप में ही लिखा है तथापि उनमें रस, मधुमती भूमिका, रस का मनोविज्ञान, छायावाद आदि अनेक विषयों पर अपना स्थिर मत प्रकट किया है और उसका युग की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा है। जिन पुस्तकों में ये भूमिकाएँ लिखी गई हैं उनमें से कुछ ये हैं—(१) मेघदूत (हिंदी अनुवाद); (२) आदर्श और यथार्थ; (३) शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा संकलित

'परिचय'; (४) काव्यालोक; (५) वैद्युत शब्दावली; (६) गद्यभारती; (७) पदचिह्न और लोकगीत इत्यादि। इन भूमिकाओं में सुचिंतित एवं मौलिक विचार तो मिलते ही हैं, साथ ही अनेक स्थल शुद्ध साहित्य का आनंद देते हैं।

अन्य रचनाएँ—केशव जी ने बहुत छोटे वय में ही *'हर-वंश-गुण-स्मृति'* नामक प्रबंध-काव्य संस्कृत में लिखा। आगे चलकर इनके श्लोक इतने सुंदर माने जाने लगे कि उनमें से कई एक शिलालेखों पर लगाए गए। कालिदास के मेघदूत का हिंदी (खड़ी बोली) में अनुवाद तो उनका भारत-प्रसिद्ध है। उन्होंने संस्कृत पढ़नेवालों के लिये 'संस्कृतसरणिः' नाम की पुस्तक दो भागों में लिखी जो अपने ढंग की अनूठी है और भाषावैज्ञानिक ढंग से संस्कृत सीखने के लिये बहुत उपादेय है। छात्रों के हितार्थ उन्होंने कई संग्रह भी प्रस्तुत किए, जिन सबमें उनका स्वस्थ दृष्टिकोण लक्षित होता है—*यथा* संस्कृतसौरभ, रसायन, गद्य-भारती आदि।

सफल वक्ता और अध्यापक—केशव जी वक्ता भी बहुत अच्छे थे और उनके भाषण बड़े सारगर्भित होते थे। उनके फैजाबाद सम्मेलन वाले भाषण का उल्लेख निराला जी ने अपने लेख में किया है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के काशी-अधिवेशन के कवि-सम्मेलन में दिया गया उनका स्वागत-भाषण (प्रस्तुत अंक, पृ० ३७१ पर उद्धृत) उनकी समकालीन साहित्य की स्वस्थ आलोचना-दृष्टि सामने रख देता है। नागरीप्रचारिणी सभा (काशी) में 'साधारणीकरण' पर उनका महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ था। उनके भाषणों में विचार-सामग्री के साथ ही प्रेरक शक्ति भी रहती थी। इसी प्रकार उनके सफल अध्यापन ने भाषाविज्ञान के अध्ययन और आधुनिक साहित्य के स्वस्थ आलोचन की परंपरा स्थिर कर दी। उदाहरणार्थ, सन् १९३८ में अनेक विद्वान् कहा करते थे कि 'कामायनी' का जानकार 'प्रसाद' के निधन के उपरांत कोई नहीं बचा, पर आज केशव जी के अध्यापन ने स्थिति बदल दी है।

प्रसन्न व्यक्तित्व—उक्त सभी क्षेत्रों में पंडित जी के समर्थ और सफल होने का रहस्य था उनका प्रसन्न व्यक्तित्व। वे प्रसन्नात्मा थे। उनकी वाणी में दूध की मिठास थी। उनके व्यवहार में आकर्षणपूर्ण शिष्टता थी। इसी विशिष्टता ने उन्हें अग्रणी और पथदर्शक बनाया।

उपसंहार—पंडित जी की अनेक रचनाओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है। परंतु सबसे मुख्य तत्त्व की चीजें जो वे हमें दे गए हैं वे दो हैं—शब्द की उपासना और भारती का स्वाध्याय। भारती के वे दो मुख्य अर्थ करते थे—(१) भारत की राष्ट्रभाषा, (२) भारत की प्राचीन विद्या, जिसे आजकल के विद्वान् अंग्रेजी में 'इंडोलजी' (Indology) कहते हैं। पंडित जी इन दोनों ही विषयों के प्रेमी थे। उन्होंने ऋग्वेद के इस शब्द को फिर से हिंदी में प्रतिष्ठित किया और अपनी अनन्य उपासना (सम्यग्ज्ञान और सुप्रयोग) द्वारा उसे हिंदी का आलोक-स्तंभ बना दिया।

—पद्मनारायण आचार्य

सफल सामाजिक कवि

द्विवेदीकालीन कविता

हिंदी कविता की सुदीर्घ परंपरा में यदि किसी काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने का धर्मपालन करती है तो वह है द्विवेदी-काल की कविता। यों तो सामाजिक कविता का सूत्रपात भारतेंदु-काल में हो चुका था, परंतु उसको परिपूर्णता इसी काल में मिली। ई० बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों की सामाजिक गति-विधि का पूर्ण प्रतिबिंब इस सामाजिक कविता में है। वह समाज के प्रति जीवित और जागरूक है।

उस समय का भारतीय जीवन श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में 'कुरीतियों का केंद्र', 'सभी गुणों से हीन' और रूढ़ि-जर्जर हो गया था। आर्यसमाज ने सामाजिक पक्ष को लेकर अपना सुधार-कार्य बड़ी सफलता से किया। समाज राज की भित्ति है, अतः समाज का निर्माण करने के लिये प्रत्येक कवि अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग है। कवि समाज के उत्थान का मर्म जानता है और वह सुधार और उन्नति का कविता में अभिनंदन ही नहीं करता, उसकी प्रेरणा भी देता है। इस काल के कवियों का एक हाथ समाज के हृदय पर है, कान जनपथ पर उठनेवाली ध्वनि के साथ हैं और दूसरे हाथ में लेखनी है। हृदय की धड़कन को बायाँ हाथ सुनता है और दायाँ हाथ लिखता है तथा कान से सुनी हुई जन-ध्वनि को भी उसमें अंकित कर देता है। इस प्रकार की है द्विवेदी-काल की समाजपरक कविता।

यथार्थवाद के चित्रण में दो प्रकार से अभिव्यंजना होती है। एक तो वह जिसमें कवि की दृष्टि व्यंग्यात्मक होती है और दूसरी वह जिसमें करुणात्मक होती है—एक से रोष ध्वनित होता है, दूसरी से करुणा। दोनों में वेदना प्रच्छन्न होती है।

सामाजिक जीवन के विविध पक्ष हैं—(१) नैतिक, (२) सांस्कृतिक, (३) धार्मिक (४) आर्थिक और (५) राजनैतिक।

स्वर्गीय केशव जी का कृतित्व

स्वर्गीय पंडित केशवप्रसाद मिश्र इस युग के एक सफल सामाजिक कविताकार थे। हिंदी को उसका न्यायोचित अधिकार दिलाने के संघर्ष के उन दिनों में बड़े-से-बड़े से लेकर छोटे-से-छोटे हिंदी-प्रेमी की एक प्रमुख वेदना रही है नागरी का निरादर और हिंदी की हीनता। सभा-समितियों और लोकनेताओं को हिंदी के स्वत्व के अर्जन के लिये अपने प्राणपण से आंदोलन करना पड़ा है। पत्र-पत्रिकाओं में इस आंदोलन की गूँज स्पष्ट है। मिश्र जी की कविता 'हमारी मातृभाषा हिंदी और हमारे एम० ए० बी० ए० सपूत' में अपने देशवासियों की कर्तव्यविमुखता पर रोष ध्वनित हुआ है—

> चाहे विदेशी वर्णमाला आपके पीछे लगे,
> चाहे बृहस्पति से अधिक हों आप इंगलिश के सगे,
> जब तक नहीं निज मातृभाषा प्रीति होगी आपमें,
> तब तक नहीं अंतर पड़ेगा देश के संताप में।

समाज की आर्थिक विपन्नता पर भी मिश्र जी ने प्रकाश डाला है और सहानुभूति के साथ विपन्नों से भावात्मक तादात्म्य किया है। दुर्भिक्ष, दरिद्रता, भुखमरी तो उनकी कविता में मुखर ही हो उठी हैं—

> सभा-समाज देश की सेवा एवं वाद-विवाद,
> जठर पिंड में चारा रहते आते हैं सब याद।
> किंतु आज ये सभी वस्तुएँ मुझे दीखतीं भार;
> हा! हा! हंत! बिना ही खाए बीत गए दिन चार।

किसान की पीड़ा को वैषम्य से उन्होंने व्यंजित किया है। मातादीन उनकी कविता का नायक है—

जो करता था पेट काटकर सरकारी कर दान;
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का भान,
आज वही भूखों मरता है मातादीन किसान।

समाज-वैषम्य की प्रखरता देखिए—

हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास,
फिर कैसे ये तोंद फुलाए खाते विषमय ग्रास!

आर्थिक सभ्यता की भर्त्सना भी कितनी तीखी है—

अगर सभ्यता आज भरे ही को है भरना,
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना।
तो सौ-सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीव-मात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी!

('वर्षा और निर्धन' "सरस्वती", अगस्त १६१६)

प्रगतिवादी-कविता-प्रेमी ऐसी पंक्तियों में सरलता से 'प्रगतिवादी' कविता के बीज देख सकते हैं। 'जाड़ा और निर्धन' कविता में भी ऐसे ही यथार्थ चित्र हैं जो आज की 'प्रगतिवादी' कविता के अवतरणों से तुलनीय हैं—

(१) सिर पर सदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत;
हाय, हाय, कंपित होता है जाड़े से भारत का पूत।
छोटे छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट,
किंतु आज वह दुःखित लौटा विफल हुई है उसकी हाट।

(२) एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिन भर काम;
किंतु पेट भर रोटी मिलना उसको है जय सीताराम।
आशावश हो वहीं खेत की रखवाली करता है रात,
उस जाड़े में वहीं बिताते अपने दुख की सारी रात।

("सरस्वती", फरवरी १६१५)

—(डा०) सुधींद्र

स्वाध्यायी, सुवक्ता और सुलेखक

सन् १९२३ में मैं सेंट्रल हिंदू स्कूल का प्रधान अध्यापक नियुक्त किया गया। उससे पहले सुना करता था कि हिंदू स्कूल में संस्कृत के एक ऐसे अध्यापक हैं, जो जिस दिन से विद्यार्थी को संस्कृत पढ़ाना शुरू करते हैं उसी दिन से संस्कृत में बोलने का अभ्यास भी कराते हैं। इस प्रणाली को अंग्रेजी में 'डायरेक्ट मेथड' कहते हैं। विदेशी भाषाएँ सिखलाने के लिये तो इसकी उपयोगिता का अनुभव मुझे हो चुका था, पर हिंदू स्कूल में पहुँचकर और आचार्य पंडित केशव-प्रसाद जी का बच्चों को संस्कृत पढ़ाना देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विदेशी भाषा की अपेक्षा इस प्रणाली से संस्कृत पढ़ाना तो और भी सरल है, क्योंकि बच्चों की मातृभाषा में भी तो संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य रहता है। मैं बहुत ही प्रसन्न होता था जब उनकी कक्षा के विद्यार्थी संस्कृत के छोटे-छोटे वाक्यों में आकर मुझसे पूछते थे कि 'क्या हम घर जा सकते हैं?', 'क्या हम स्कूल के बाद खेल की सामग्री ले सकते हैं?' इत्यादि। तभी से मेरे हृदय में केशव जी के लिये आदर का भाव उत्पन्न हुआ।

कुछ दिनों के बाद हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में एक प्राध्यापक की आवश्यकता हुई। स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास, जो उस विभाग के अध्यक्ष थे, चाहते थे कि केशव जी वहाँ नियुक्त हो जायँ। परंतु महामना मालवीय जी के मन में यह गलत धारणा बैठी हुई थी कि स्कूल में पढ़ानेवाला अध्यापक कालेज में सफल नहीं हो सकता और केवल संस्कृत पढ़ानेवाला हिंदी साहित्य अच्छी तरह नहीं पढ़ा सकता। इसलिये मालवीय जी महाराज ने डा० श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव पर बहुत ध्यान नहीं दिया। पर संयोग ऐसा आया कि उन्हीं दिनों स्कूल में तुलसी-जयंती होनेवाली थी। मैंने केशव जी से कहा कि उस जयंती में तुलसी-साहित्य पर व्याख्यान दें और उसकी तुलना संस्कृत साहित्य से करें। केशव जी का वह व्याख्यान इतना विद्वत्तापूर्ण और साथ ही रोचक हुआ कि मालवीय जी पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवीय जी बड़े भावुक थे और केशव जी ने अपने भाषण में विनयपत्रिका की अधिक चर्चा की। मालवीय जी बहुत गद्गद् हुए और मुझसे वहीं धीरे से कहा कि ये तो बड़े विद्वान् मालूम होते हैं। मैंने सुअवसर पाकर तुरंत कहा कि इसी लिये तो बा० श्यामसुंदरदास इनको विश्वविद्यालय में लेना चाहते हैं।

इसके कुछ महीने बाद अखिल-भारतीय संस्कृत-सम्मेलन हिंदू स्कूल के काशी-नरेश हाल में हुआ, जिसके अध्यक्ष मालवीय जी थे। उसमें भी मेरे बहुत आग्रह करने पर केशव जी ने संस्कृत में भाषण दिया। वे धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते हैं यह उसी दिन लोगों को विदित हुआ। केशव जी में आत्मविज्ञापन का भाव नहीं था। स्वेच्छा से वे व्याख्यान देने खड़े नहीं हो जाते थे। बहुत आग्रह करने पर राजी होते थे। शायद यही कारण है कि उनके व्याख्यानों से जितना ज्ञान प्रकट होता था वह सब वे लिखित रूप में नहीं छोड़ गए। सार्व-जनिक जीवन में थोड़ी-बहुत अपने को अग्रसर करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह बात केशव जी में बिलकुल नहीं थी। जहाँ तक मुझे याद है, जब कभी उनसे व्याख्यान आदि देने के लिये कहा जाता था तो वे यही कहा करते थे कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। संभव है वे ठीक कहते हों, पर जब उनका व्याख्यान हो जाता था तो वह इतना सुंदर होता था कि लोग चाहते थे कि उसे छाप डालें। पर उन दिनों शीघ्रलिपि हिंदी में नहीं चली थी।

जब हिंदू विश्वविद्यालय में नियुक्ति का समय आया तो महामना मालवीय जी ने स्वयं प्रस्ताव किया कि पं० केशवप्रसाद मिश्र चुने जायँ, और वे नियुक्त कर लिए गए। मालवीय जी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। यहाँ तक कि जब कभी वे उनसे मिलने जाते थे तब भीड़ रहने पर भी उनको अवश्य बुला लेते थे। केशव जी के हृदय में आत्मसम्मान की दृढ़ भावना के साथ-साथ बड़ों के लिये आदर का भाव भी बहुत अधिक था। संसार में बहुधा आत्म-सम्मान के साथ अहंकार का भाव लोगों में आ जाया करता है, पर उनमें यह बात नहीं थी।

वे बहुत मिलने-जुलनेवाले आदमी नहीं थे। पढ़ाते तो थे ही, और अच्छा पढ़ाते थे परंतु पढ़ने में उनको अधिक रस मिलता था। स्कूल में भी अवकाश के समय वे एक कोने में बैठकर कोई न कोई पुस्तक पढ़ते हुए दिखाई देते थे। बहुत से लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनके अंग्रेजी में भी लेख बहुत सुंदर भाषा में हुआ करते थे। जब हिंदी-विभाग में अध्यक्ष का चुनाव हो रहा था तब पं० इकबाल नारायण गुर्टू विश्वविद्यालय के प्रो-वाइस-चांसलर थे। केशव जी का एक अंग्रेजी लेख लेकर मैं गुर्टू जी के पास पहुँचा। उन्होंने उसे रख लिया। जब नियुक्ति का समय आया तब उन्होंने समिति में केशव जी की

बड़ी प्रशंसा की। गुट्टू जी हिंदी साहित्य के पंडित नहीं हैं और यही उनकी कठिनाई थी, पर उस लेख से केशव जी की विद्वत्ता उनको विदित हो गई और केशव जी अध्यक्ष चुन लिए गए।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा सदा उनकी ऋणी रहेगी। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के परीक्षार्थियों के हितार्थ सभा में जब कभी साहित्यिक व्याख्यान हुआ करते थे, केशव जी को लोग आग्रहपूर्वक पकड़कर ले आते थे, पर उनके आलोचनात्मक, विशेष कर भाषाविज्ञान संबंधी भाषणों से केवल परीक्षार्थी ही नहीं, अन्य श्रोतागण भी प्रसन्न हो जाते थे। भाषाओं के संबंध में तो उनकी रुचि अद्‌भुत थी। गाँववालों की बोली, पंजाबियों की बोली और आसाम और उड़ीसा की भाषा के एक-एक शब्द तुलनात्मक दृष्टि से जब वे सामने रखा करते तब मुझे तो मैक्समूलर का वह लेख (Migration of Words) याद आ जाता था जिसमें उन्होंने यह बतलाया है कि एक स्थान के शब्द और कहानियाँ किस प्रकार परिवर्तित रूप में दूसरे स्थान में पहुँच जाती हैं।

—रामनारायण मिश्र

'पत्रिका की परिवर्तन-सूची, सं० २००८

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
आगामी कल	खँडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आर्यमार्तंड	अजमेर
कर्मवीर	खँडवा
कल्पना	हैदराबाद(दक्षिण)
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई दिल्ली
जैन-सिद्धांत-भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
दीपक	अबोहर
धर्मदूत	सारनाथ
नईधारा	पटना
नयासमाज	कलकत्ता
प्राणिशास्त्र	लखनऊ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारती	नागपुर
भारतीय विद्या	बंबई
राष्ट्रभारती	वर्धा
लोकमान्य	कलकत्ता
विशाल भारत	कलकत्ता
विश्ववाणी	प्रयाग
वीर अर्जुन	दिल्ली
वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शांतिदूत	काशी
शिक्षा	इलाहाबाद
शुभचिंतक	जबलपुर
शोध पत्रिका	उदयपुर
संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता

समाजशास्त्र	वनस्थली, जयपुर
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य	पटना
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हंस	काशी
हरिजन सेवक	अहमदाबाद
हिंदुस्तानी प्रचार	मद्रास

अँगरेजी

अडयार लायब्रेरी बुलेटिन	अडयार
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली	कलकत्ता
ईस्ट ऐंड वेस्ट	रोम (इटली
एंशंट इंडिया	नई दिल्ली
एनल्स आव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स आव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लियाग्रफी आव इंडियन आर्क्यालाजी	लीडन (हालैंड)
जर्नल आव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल आव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल आव द बांबे ब्रांच आव रायल एशियाटिक सोसायटी	बंबई
जर्नल आव द बांबे युनिवर्सिटी	बंबई
जर्नल आव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (क्वार्टर्ली) आव द मीथिक सोसायटी	बंगलोर
जर्नल आव दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी	राजमहेंद्री
जर्नल आव दि ओरियंटल इंस्टीट्यूट	बड़ोदा
थियासाफिस्ट	काशी
दि जैन ऐंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन आव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज	लंदन
सेल्फ रिअलिजेशन मैगजीन	कैलिफोर्निया (सं० रा० अमेरिका)
हार्वर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज	कैंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६, सं० २००८

संपादक

कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का ५)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

वार्षिक विषय-सूची

समीक्षा